No 1350 बजरगबली S S B

श्री भागवत-दर्शन

# भागवती कथा

## ( त्रयोदश खण्ड )

☆

*व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।*
*कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥*

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

चतुर्थ संस्करण
१००० प्रति

ज्येष्ठ कृष्ण २०२९
जून १९७२

मूल्य—१.६५
संशोधित मूल्य

मुद्रक-वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८९२ मुट्ठीगंज, प्रयाग ।

## विषय-सूची

# महाराज पृथु को सनत्कुमारजी का उपदेश

[ २७८ ]



शास्त्रेष्वियानेव सुनिश्चितो नृणाम्
क्षेमस्य सध्र्यग्विमृशेषु हेतुः ।
असङ्ग आत्मव्यतिरिक्त आत्मनि
दृढा रतिर्ब्रह्मणि निर्गुणे च या ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० २२ अ० २१ श्लोक)

छप्पय

*बोले सनत्कुमार प्रश्न पृथु का सुनि करिकें ।*
*करहु होइ निस्सङ्ग काज सब हरि हिय धरिकें ॥*
*शास्त्र बचन गुरु दया भक्ति भगवत् भक्तनि की ।*
*योग, ज्ञान, हरिकथा टेव नित हरि कीर्तन की ॥*
*ऐसे और अनेक हैं, है उपाय, उत्तम अनघ ।*
*कहहिं तिनहिं जे प्रेम तें, होहिं शुद्ध मन कटहिं अघ ॥*

संसार में वस्तुएँ सुलभ हैं, केवल सन्त संग और हरि कथा ये ही दुर्लभ हैं। जिन्हें सन्तों का संग प्राप्त है जिन्हें भगवत्

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं— 'बिदुरजी ! जब महाराज पृथु ने कल्याण का मार्ग पूछा तब श्री सनत्कुमार कहने लगे—' राजन् ! विचारयुक्त सभी सुन्दर शास्त्रों में मनुष्यों के कल्याण का बस एक ही कारण बताया है, वह यह कि आत्मा के अतिरिक्त जो ममत्व के पदार्थ हैं, उनमें अनासक्त भाव से रहकर अपने अन्तरात्मा निर्गुण ब्रह्म में सुदृढ़ अनुराग होना।

कथा श्रवण में रस आता है, उन्हें अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं। कुछ कार्य तो ऐसे हैं, जिनमे एक को आनन्द होता है, दूसरे को नहीं। जैसे लोभी को द्रव्य अत्यन्त प्रिय होता है वह पैसा को प्राणों से अधिक प्यार करता है, किन्तु पैसा उससे प्यार नहीं करता, जैसे मांसाहारियों को मांस अत्यन्त प्रिय है, किन्तु जिनका मास खाते हैं, उन्हें खाने वाला प्रिय नहीं। कुछ कार्यों में परस्पर में दोनों को ही आनन्द आता है, जैसे सत्पति को अपनी सती साध्वी धर्मपत्नी के मिलने में सुख होता है, वैसे ही सती को अपने पति से मिलने में आनन्द आता है। जैसे अत्यन्त प्रेमी दो मित्रों को परस्पर में मिलने से दोनों ओर से आनन्द का स्रोत बहने लगता है। उसी प्रकार सत्संग मे भी है। योग्य अधिकारी को देखकर उपदेष्टा का मन मुकुर खिल उठता है और अपने सम्मुख सब संशय छेत्ता गुरु को देखकर योग्य अधिकारी शिष्य का हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। जितना ही रस मुमुक्षु को पूछने और सुनने मे आता है, उससे बढकर सुख वक्ता को उनका उत्तर देने में आता है। दोनों ओर से सुख का स्रोत बहने लगता है। आनन्द के निर्झर बहने लगते हैं।

मैत्रेयमुनि कहते हैं –"विदुरजी! जब महाराज पृथु ने कुमारों से श्रेय सम्बन्धी पारमार्थिक प्रश्न पूछा तो उसका उत्तर चारों भाइयों में से सनत्कुमार देने लगे।"

सनत्कुमार बोले—"राजन्! तुमने बहुत ही सुन्दर प्रश्न किया। आपको तो भला शंका होनी ही क्या थी। आपका यह प्रश्न अपने लिये नहीं है, लोक कल्याण के निमित्त है। सज्जन पुरुषों का यह स्वभाव होता है, कि वे ऐसे ही कार्य करते हैं जिनसे सबका भला हो। ऐसे ही प्रश्न पूछते हैं, जिसमें प्राणीमात्र का हित हो। आपने जो पूछा है उसका उत्तर मैं दूँगा।"

इस पर महाराज बोले—"भगवन्! मैंने आपको कष्ट दिया इसके लिये क्षमा प्रार्थी हूँ।"

सनत्कुमारजी बड़े स्नेह से बोले—"अरे, भैया! कष्ट काहे का है यह तो तुमने हमारे ऊपर बड़ी कृपा की, जो ऐसा प्रश्न करके हमें भी भगवद् गुणानुवाद कथन का अवसर दिया। देखिये सत्सङ्ग में श्रोता को उतना रस नहीं आता जितना योग्य अधिकारी के सम्मुख कहने में वक्ता को रस आता है। साधु समागम तो श्राता वक्ता दोनो को ही अभिमत है। क्योंकि उन दोनो से प्रश्नोत्तर शका समाधान से सभी के ससयों का छेदन होता है, प्राणिमात्र का कल्याण होता है। आप तो बड़भागी हैं, जो आपकी ऐसे प्रश्न करने की बुद्धि उत्पन्न हुई। बिना हृदय मे अविचल भगवद्भक्ति हुए कोई ऐसा प्रश्न कर ही नहीं सकता। आप भगवान् के भक्त हे भगवत् स्वरूप हे, आप गोविन्द गुणानुवाद धरण के रस लम्पद भक्त मधुकर है। ऐसी भक्ति लाखों करोड़ो मे से किसी भाग्यशाली को प्राप्त होती है। हृदय में ऐसी भक्ति के उत्पन्न होते ही सम्पूर्ण वासना रूप जो मन के मल हैं वे पल भर में नष्ट हो जाते हैं। अन्तःकरण शीशा के समान स्वच्छ हो जाता है।"

महाराज पृथु बोले "अभी तक तो भक्ति है नहीं, आपकी अनुकम्पा हो जाय तो सम्भव हैं उत्पन्न भी हो जाय। हाँ, तो मनुष्यों के कल्याण का सर्वश्रेष्ठ सर्वसुगम मार्ग आप बतावें ?"

सनतकुमार बोले—"देखिये, दो पदार्थ हैं। आत्म और अनात्म। आत्मा सर्वव्यापक, सर्वसाक्षी, मायिक गुणों से रहित सत् चित और आनन्द स्वरूप है। वह सबके हृदय मे जीव रूप स वास करता है। इसी प्रकार सब अपने को 'अह' मैं कहते हैं किन्तु जीवात्मा इस यथार्थ अह से प्रेम न करके यह मेरा देह, वह मेरा गेह है यह मेरा कुटुम्ब है यह मेरा परिवार है। यह

मेरा धन है ये मेरे स्वजन हैं। इन क्षणभंगुर नाशवान् अनित्य पदार्थों में ममत्व किये बैठा है। इन्हें ही अपना मानकर नाना क्लेश सह रहा है। बड़े श्रम से लाखों रुपये लगाकर एक घर बनवाया भूकम्प में वह गिर गया, अब इसीलिये अत्यन्त दुखी है अरे मेरा सर्वस्व नष्ट हो गया। मैं लुट गया। अरे, तेरा क्या नष्ट हुआ भैया, मिट्टी-मिट्टी में मिल गई। कितने लोगों ने भवन, किले दुर्ग बनाये कोई साथ लेकर गया हो तो बताओ। सब यहीं रह गये और ऊबड़ खाबड़ खेड़े बन गये। पुत्र मर जाता है, तो हाथ पैर पीटते हैं रोते चिल्लाते हैं, मैं मर गया। मेरा सब कुछ चला गया अरे, तू क्या मरा भैया, जीव अपने कर्मानुसार शरीर धारण करता है। कर्म समाप्त होते ही इस स्थूल शरीर को त्याग कर दूसरा शरीर धारण कर लेता है। इसमें रोने-धोने वाली बात कौन-सी है। सो राजन्! इन, देह, गेह, धन, सम्पत्ति, स्वजन परिजन, पुरजन आदि अनात्म पदार्थों को आत्मा से भिन्न समझकर सबमें अनासक्त भाव से बर्ताव करना, तथा मेरे अन्तरात्मा निर्गुण में सुदृढ़ अनुराग करना। इसी को मैंने कल्याण का मार्ग समझा है इसी से जीव समस्त क्लेशों से रहित होकर अपने यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि कर सकता है। स्वयं आनन्द स्वरूप हो सकता है।"

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए महाराज पृथु ने प्रश्न किया—"प्रभो! यह तो आपने सार सिद्धान्त बता दिया। साध्य स्थिति का वर्णन कर दिया, किन्तु मैं तो यह जानना चाहता हूँ, कि यह इतनी उच्च स्थिति किन साधनों के द्वारा प्राप्त हो सकती है। कृपा करके मुझे संक्षेप में साधनों का निर्देश और कर दें।

यह सुनकर सनत्कुमार बोले—"राजन्! एक साध्य होने पर उसे प्राप्त करने के विविध साधन हैं। जैसे आपकी यह बर्हिष्मती नाम की पुरी है। इसमें कोई अङ्ग देश से आता है,

कोई बग देश से, कोई सुह्म देश से कोई पुण्ड्र देश से। कोई राजपथ से आता है, कोई साधारण पथ से कोई पगडण्डी से आता है, कोई खेतों से होकर। कोई पूर्व से आता है, कोई पश्चिम से। कोई रथ से आता है, कोई हाथी घोडा, ऊँट से, कोई पैदल आता है तो कोई नरयान से। इतनी सब भिन्नता होने पर भी अन्त में सब पहुँच जाते हैं, इसी बर्हिष्मती नगरी में। महाराज! मूर्ख लोग इन बातों पर झगडा करते हैं, मेरा मार्ग ठीक है तेरा ठीक नहीं। मेरा साधन उत्तम है तेरा हेय है। अजी, जिसे जो भी अनुकूल पड़े उसके लिये वही सर्वोत्तम है। गुरुजन जिसे जिस मार्ग का अधिकारी समझकर उपदेश करें, उसका उसी मार्ग से चलने में कल्याण है। किसी को दूध प्रिय है, किसी को दही अच्छा लगता है। शास्त्रों में परमार्थ के अनेकों साधन बताये हैं, इनमें से किसी एक का आश्रय लेकर मनुष्य संसार सागर से पार हो सकता है।"

महाराज पृथु ने पूछा—"भगवन्! कुछ साधनों का संकेत तो करें।"

सनत्कुमार बोले—"शास्त्रों में विश्वास रखकर गुरु सुश्रूषा करते हुए किसी भी साधन का आश्रय ले ले। जैसे शास्त्रों में जो भागवतों के धर्म बताये हैं, उनका विधिवत् पालन करने से, अध्यात्मतत्त्व क्या है, इसकी उपलब्धि कैसे हो सकती है, ऐसी जिज्ञासा से, भगवान् की उपासना में चित्त दृढ न होता हो, तो भागवतों योगेश्वरों की उपासना ध्यान करने से, नित्य प्रति नियमपूर्वक श्रद्धा और संयम के सहित श्रीहरि की परम पावन कथा सुनने से भगवद् धर्मों में अनुराग होता है। कानों के द्वारा हृदय में पहुँचने पर भगवद् गुणानुवाद मनके सभी मलों को धो देते हैं। जो लोग संसारी भोग पदार्थों को ही सर्वस्व समझते

हैं, ऐसे विषयी लोगों का कभी भी संग न करने से। जो पदार्थ विषयी लोगों को सुखकर प्रतीत होते हैं, उनका अधिक संग्रह करने से। निरन्तर कथा कीर्तन में ही लगे रहने से, श्रीकृष्ण की लीलाओं का निरन्तर श्रवण चिन्तन करते रहने से, निष्काम भाव से यम नियमों का पालन करने से, कभी भी किसी की निन्दा न करने से, तितिक्षा का पालन करने से, किसी सांसारिक पदार्थों की चेष्टा न करने से। ये ही सब भगवत् प्राप्ति में अनेकों उपाय हैं। यथार्थ निरन्तर आत्मा में ही रमण करने से बारम्बार भगवद्गुणानुवादों के श्रवण करने से ही यह संसार तिरोहित हो जाता है, फिर प्राणी की आत्मा में स्थिति हो जाती है।"

इस पर महाराज पृथु ने पूछा—"प्रभो! ये संसारी पदार्थ तो हमें स्वयं अपनी ओर खींचते हैं। दूसरों की निन्दा स्तुति सुनने में कानों को बड़ा सुख मिलता है, उतना भगवान् की कथा सुनने में आनन्द नहीं आता। कथा सुनने से चित्त भागता है, उसमें रति नहीं होती। यह विषयों के प्रति अनुराग कैसे दूर हो।"

इस पर सनत्कुमार बोले—"राजन्! यह अभ्यास की कमी है, यदि निरन्तर भगवद् गुणानुवाद में ही चित्त को फँसाये रखें उसी में तन्मय रहने की चेष्टा करे तो शनैः-शनै विषयों से आसक्ति हटकर आत्मा में अनुरक्ति हो जाती है। इस विषय में एक दृष्टान्त सुनिये।

एक चर्मकार के घर बहू आई। उस बहू के पिता के घर में चमड़े का कार्य नहीं होता था। नौकरी चाकरी खेती बारी करते थे। बहू जब घर में आई, उसे दुर्गंधि मालूम पड़ी। सदा नाक बन्द किये रहती, किन्तु कब तक बन्द रखती। रहना तो उसे

इसी घर में था। इसी घर में उसको जीवन भर निर्वाह करना था। धीरे-धीरे उसे दुर्गंधि सहने का अभ्यास पड गया।

एक दिन उसने अपनी सास स कहा—"सासूजी! जाने क्या बात हे, जब से मैं तुम्हारे घर मे आई हूँ। नित्य प्रति तुम्हारे घर की दुर्गन्धि कम होती जाती हे।"

इस पर हँसकर सास ने कहा—"बेटी! अभी क्या है, कुछ दिनों में मेरे घर मे दुर्गन्धि रहेगी ही नहीं।"

राजन्! आप सोचें, दुर्गन्धि कहीं चली थोडी ही गई। निरन्तर उसी में रमण करने से उसी में अभ्यास होने से उसे अभ्यास हो गया। इसी तरस जब तक हमारे हृदय में विषयों का मोह भरा है, तब तक भगवद् कथा कीर्तन प्रिय नहीं लगते चित्त इनमें भागता हे। यदि निरन्तर नियम से उन्हीं म चित्त को लगाये रहें, तो धीरे धीरे जैसे विपयियों को विषयों से आनन्द आता है उसी प्रकार मुमुक्षियों को मोक्ष धर्म में आनन्द आने लगेगा। निरन्तर के अभ्यास के ही साधन की परिपक्वता होती हे।"

इस पर महाराज ने कहा—"भगवन्! ये जो अविद्या और कर्मवासनायें हैं, ये तो जीव के हाथ अनादि काल से लगी हुई हैं, इनसे छुटकारा केसे हो ?"

यह सुनकर सनत्कुमार बोले—"महाराज! यह अविद्या तो अन्तःकरण का आश्रय लेकर रहती है। गुरुभक्त पुरुष का जिस समय परब्रह्म में निश्चल प्रीत हो जाती है। उस समय जीव ये आश्रय रूप, पाँच प्रकार का अविद्या से युक्त अन्त.करण को ज्ञानाग्नि भस्म कर देती है।"

इस पर महाराज ने पूछा—"प्रभो! अविद्या भी अन्त.करण में रहती हे और ज्ञान वेराग्य भी अन्तःकरण से उत्पन्न होते हैं, फिर वे अविद्या को कैसे भस्म कर सकते हैं।"

यह सुनकर सनत्कुमार हँस पड़े और बोले—"राजन्!

आप नित्य यज्ञों में देखते नहीं। दो लकड़ियों के मन्थन से अग्नि उत्पन्न होती है, वह अग्नि उत्पन्न होकर अपनी उत्पत्ति के स्थान रूप उन लकड़ियों को भी भस्म कर देती है। इसी प्रकार कर्माश्रय के दग्ध हो जाने पर पुरुष सम्पूर्ण कर्म बन्धनों से मुक्त हो जाता है। कर्म करते हुए भी वे कर्म आगे का भोग उत्पन्न नहीं करते। जैसे भुने हुए बीज को बोने पर फिर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होता। जो पदार्थ शरीर के भीतर हैं जैसे मेरा मन, मेरी बुद्धि, मेरा चित्त, मेरा अन्तःकरण आदि तथा जो शरीर के बाहर के पदार्थ हैं जैसे घट, पट, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि-आदि इन सबमें भेद-भाव जीवात्मा और परमात्मा के कारण ही है। ज्ञान होने पर ये भेदभाव मिट जाते हैं। जैसे स्वप्न में हमने देखा हम राजा हो गये हैं, छत्र चमर लग रहे हैं। सहस्रों दास-दासियों से घिरे हैं। जब तक स्वप्न रहता है, तब तक ये सब ठाट-बाट सत्य दिखाई देते हैं। इनमें सुख भी होता है, जहाँ स्वप्न समाप्त हुआ आँख खुल गई, वहाँ न राजा न छत्रचमर, वही शैया है, वही हम हैं, तब वे स्वप्न के सब पदार्थ असत्य प्रतीत होने लगते हैं"

महाराज पृथु ने पूछा—"यह नानात्व किस कारण से है?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"राजन्! यह सब इस मन ने ही कल्पना कर रखी है। अन्तःकरण रूप उपाधि के रहते हुए ही आत्मा को, इन्द्रियों के विषयों को तथा दोनों से सम्बन्ध अहङ्कार को पुरुष देख सकता है।"

इस पर महाराज पृथु ने कहा—"भगवन्! यह कैसे? यह बात तो मेरी समझ में न आई।"

इस पर सनत्कुमारजी ने कहा—"महाराज! आप यों समझें। जब तक जल है, तब तक अपने आपको और अपने प्रतिबिम्ब को पुरुष देख सकता है। जब प्रतिबिम्ब दिखाई देने वाली वस्तु न रहेगी, तो पुरुष केवल बिम्ब ही बिम्ब को देखेगा,

प्रतिबिम्ब विलीन हो जायगा। यह बिम्ब है, यह प्रतिबिम्ब है, यह पुरुष है, यह उसी की छाया है, ये भेद तो जल, शीशा, अथवा प्रकाश आदि के द्वारा हैं। पुरुष तो प्रतिबिम्ब छाया आदि से रहित है, ये तो उपाधि के द्वारा प्रतीत होती हैं।"

यह सुनकर महाराज पृथु बोले—"आत्मा तो नित्य है, शुद्ध है, ज्ञानस्वरूप है। अन्तःकरण के संसर्ग से इसमें मलिनता क्यों आ जाती ?"

यह सुनकर सनत्कुमारजी बोले—"महाराज! आत्मा में कुछ मलिनता नहीं आती। बुद्धि की विचार शक्ति नष्ट हो जाने से पूर्वा पर की स्मृति नष्ट हो जाती है। और स्मृति भ्रंश हो जाना ही विनाश है। अपने स्वरूप का ज्ञान न रहना इसी को विद्वानों ने आत्म विनाश बताया है।"

इस पर महाराज पृथु बोले—"महाराज! बात कुछ गोल-माल-सी हो रही। बुद्धि की विचार शक्ति किस कारण नष्ट होती है।"

सनत्कुमारजी बोले—"राजन्! इसे आप यों समझें। एक छोटा सा तालाब है उसके चारो ओर कुश काश आदि व्यर्थ के पौधे उत्पन्न हो गये हैं। वे अपनी जड़ों से शनैः-शनैः तालाब के सब जल को सोख लेते हैं' तालाब सूख जाता है। इसी प्रकार मन में पहले पहल विषयों की चिन्तना होती है। चिन्तन करते-करते उन विषयों में आसक्ति होने लगती है। जिसमें हमारी आसक्ति हो जाती है, उसे प्राप्त करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है। उचित उपायों से प्राप्त नहीं कर पाते तो लालशावश अनुचित कार्य करते हैं। अनुचित कार्य करते-करते बुद्धि की जो सद्-असद् विवेचना वाली शक्ति है वह तिरोहित हो जाती है। जब स्मृति नष्ट हुई तो स्वरूप ज्ञान का नष्ट हो जाना स्वाभाविक ही है। राजन्! देखिये भगवान् के माया की कैसी प्रबलता है। धन,

पुत्र परिवार स्वरूप तो प्रिय नहीं। आत्मा के संसर्ग से ही उनमें प्रियता है। बहुतों का धन नित्य नष्ट होता है, हमें दुःख नहीं होता। बहुतों के पुत्र संसार में मरते हैं। जिनसे अपनेपन का सम्बन्ध नहीं हमें कुछ भी उनकी मृत्यु पर कष्ट नहीं होता किन्तु जिनमें अपनापन है। मेरा धन, मेरा, पुत्र, मेरा घर, जिनमें मेरापन है उनकी प्राप्ति में सुख और विनाश में दुःख होता है। इससे प्रतीत होता है, कि प्रियता अप्रियता वस्तुओं में नहीं किन्तु आत्मा के सम्बन्ध से है। उसी आत्मा को इन विषयों में फँसकर भूल जाते हैं। लोभ में पड़कर अपनी हानि कर लेते हैं अपने यथार्थ स्वार्थ को छोड़ देते हैं इससे बढ़कर मूर्खता क्या होगी। इस पर महाराज एक दृष्टांत सुनिये।"

एक व्यक्ति को आपके समीप अपना दुःख कहने अपने एक प्रधान स्वार्थ की सिद्धि के लिये आना था। उनकी कन्या विवाह योग्य हो चली थी। उसे विश्वास था, कि जहाँ आपके पास पहुँचे नहीं, मेरा मनोरथ पूर्ण हुआ नहीं। वह वृद्ध पैदल चलने में असमर्थ था, अतः उसने ५ रजत मुद्राओं पर एक बैलगाड़ी तै की। उसमें बैठकर कई दिनों में वह आपकी नगरी तक पहुँच गया। बैलगाड़ी वाला उसे उतार कर लौटने लगा। तब उसने पूछा—"इधर से तुम खाली ही गाड़ी ले जाओगे ?"

गाड़ी वाले ने कहा—"जी हाँ, खाली तो ले जानी ही है।"

उस वृद्ध व्यक्ति ने पूछा—"अच्छा, अब कोई जाना चाहें, तो तुम कितने में ले जाओगे ?"

उसने कहा—"जी, अब तो मुझे कोई जो भी दे दे, उसी में ले जा सकता हूँ। आधी मुद्रा दे तो भी ले जाऊँगा।"

उस व्यक्ति ने सोचा—"उधर से मैं ५ मुद्रा देकर आया, इधर से आधी में ही जाने को तैयार है १० गुना लाभ है। चलो लौट चलें। यह सोचकर वह कम किराये के लोभ में अपने

यथार्थ स्वार्थ को त्यागकर, फिर घर लौट गया। यदि आपके पास आ जाता तो उसका मनोरथ पूर्ण हो जाता, किंतु घर जाकर फिर चिन्ता में फँस गया, इतना द्रव्य भी व्यर्थ ही नष्ट हुआ इसी प्रकार राजन्! यह मनुष्य देह मुक्ति का द्वार है। यहाँ तक आने पर भी जो विषय भोगों में फँसकर मोक्ष के लिये प्रयत्न नहीं करता, परमार्थ साधन नहीं करता, वह अत्यन्त मूर्ख है। विषयों के प्रलोभन में वह ठगा गया। इन संसारी तुच्छ पदार्थों का, धन का, विषय भोगों का ही चिन्तन करते रहना, मनुष्य का सबसे बड़ा पतन है, वह उसके समस्त पुरुषार्थों को नष्ट कर देता है। क्योंकि रुपये पैसे और विषय के ये भोग सब जड़ हैं, इन जड़ पदार्थों का निरन्तर चिन्तन करने से जीव जड़ता को ही प्राप्त होता है। वृक्ष पाषाण आदि की योनि में जन्म लेता है। मोक्ष की प्राप्ति धर्मपूर्वक अर्थ और काम के सेवन से होती है। जो धर्म से हीन होकर निरन्तर विषयों में ही फँसे रहते हैं। वे सदा घोर अज्ञानरूप अन्धकार में फँसे रहते हैं। धर्म, अर्थ, काम ये तो साधन हैं, धर्मादिक साध्य नहीं। साध्य तो मोक्ष ही है। क्योंकि मोक्ष के अतिरिक्त धर्म अर्थ और काम ये भी क्षयिष्णु हैं, ये भी कृतान्त के भय से संयुक्त हैं। देखिये सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का ही नाम प्रकृति है। इस प्रकृति में जब विषमता उत्पन्न होती है, क्षोभ होता है तब महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है उससे अहङ्कार फिर मन भूत, तन्मात्रायें आदि उत्पन्न होती हैं। इन सबको प्रकृति का विकृति विकार कहते हैं। गुण क्षोभ के अनन्तर जो भी उत्पन्न हुए हैं वे सब क्षयिष्णु, नाशवान और अनित्य हैं, क्योंकि ये सब काल के अधीन हैं। काल भगवान् इनकी इच्छाओं को कुचलते रहते हैं।"

महाराज पृथु ने पूछा—"जो देह नहीं, मन नहीं, पञ्चभूत

नहीं, बुद्धि नहीं, इन्द्रिय नहीं तो फिर हैं क्या ? उन्हें हम कैसे समझें ?"

यह सुनकर सनत्कुमारजी हँस पड़े और बोले—"अब राजन् ! वह भगवान् कोई स्वादिष्ट स्थूल फल तो हैं नहीं, जो मैं तुम्हारे हाथ में पकड़ा दूँ। वे शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, बुद्धि तथा अहङ्कार से आवृत्त, स्थावर जंगम जितने जीव हैं, सबके हृदय मे अन्तर्यामी रूप से व्याप्त हैं, वे स्वयं प्रकाश हैं, सर्वव्यापी हैं। जान में अनजान में सभी उनका अनुभव करते हैं। किसी ने आकर किवाड़ी खटखटायी। हमने पूछा—"कौन है ?" बाहर वाला कहता—"जी कोई नहीं मैं हूँ।"

किसी के पैरों की पैछर सुनाई दी। हमने चौंककर पूछा—"कौन जा रहा है।" जाने वाले ने कहा—"मैं हूँ।" आप सोच राजन् ! यह मैं कौन है। जो अपने को अहं करके अनुभव करता है। आप यही निश्चय करें कि वह अहं को अनुभव करने वाला ही मैं आता है। मैं उससे भिन्न नहीं। वह अहं ही ब्रह्म है। ब्रह्म के अतिरिक्त यह दृश्य जगत् कुछ नहीं हैं। जैसे ठूँठ को देखकर मनुष्य को भ्रम होता है। सीपी को देखकर रजत का भ्रम होता है, मृग मारीचिका को देखकर जल का भ्रम होता है। टेढ़ी मेढ़ी रज्जु को देखकर सर्प का भ्रम होता है। उसी प्रकार अविवेक के कारण शुद्ध, बुद्ध, संग रहित परमात्मा में यह कार्य कारण रूप दृश्य प्रपञ्च मिथ्याभास रहा है।

इस पर पृथु महाराज ने पूछा—"प्रभो ! किस भावना से यह मिथ्या प्रपञ्च मिल न हो।"

सनत्कुमार बोले—"राजन ! उन अत्यन्त शुद्ध, नित्यमुक्त ज्ञान स्वरूप कर्म से रहित भगवान् ही मेरी शरण हैं। अन्य सबकी आशा छोड़कर सर्वात्मभाव से भगवान् का ही आश्रय

रखना उन्हें ही जीवन सर्वस्व समझना यही स्वरूप ज्ञान का और मिथ्या प्रपञ्च की निवृति का उपाय है।"

पृथु महाराज बोले—"भगवन्! आपके कथनानुसार साधन तो बहुत हैं, हमें तो आप कोई सरल सर्वोपयोगी सरस साधन बतावें।"

यह सुनकर सनत्कुमार जी ने कहा—"राजन! भगवान् तो सबके हृदय में बैठे हैं। सबको वे ही अपनी माया से घुमा रहे हैं। उनकी सत्ता के बिना किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं। वे दिखाया नहीं देते क्योंकि हृदय में एक बड़ी सी-गाँठ पड़ गयी है। अँगूठे के पोर के बराबर तो वे हैं हां, गाँठ की ओट में हो जाने से उनके दर्शन नहीं होते।"

पृथु बोले—"हाँ, भगवन्! यही तो मेरा प्रश्न है, कि यह हृदय की ग्रन्थि कैसे कटे? कैसे संशयों का छेदन हो। कैसे इन कर्म वासनाओं का क्षय हो?"

सनत्कुमार बोले—"राजन्! बहुत से योगी गण इस हृदय की ग्रन्थि को काटने के लिये अनेक कठिन कठिन उपाय करते हैं, कोई घोर तप करते हैं, कोई यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि वाले अष्टांग योग द्वारा अन्तर्मुख होकर हृदय ग्रन्थि का कीर्तन करना चाहते हैं। किन्तु जितनी सुगमता से शरणागत प्रपन्न भक्त जन उन भक्तभयहारी श्रीमन्नारायण भगवान् वासुदेव के चरण कमल की कमनीय कान्ति के अनुराग के द्वारा यह हृदय ग्रन्थि कट सकती है, उतनी सरलता से अन्य किसी भी उपाय से नहीं कट सकती इसलिये राजन्! आप सौन्दर्य, माधुर्य, सर्व सद्गुणैक धाम भक्तभय भञ्जन भगवान् वासुदेव की सर्वात्मभाव से शरण में जाओ। उन अरुण चरण की शीतल छाया में जाकर ही आपको शाश्वती शान्ति मिलेगी, वहीं पहुँचकर आपके सर्व संशयों का मूलो-

नहीं, बुद्धि नहीं, इन्द्रिय नहीं तो फिर हैं क्या ? उन्हें हम कैसे समझें ?"

यह सुनकर सनत्कुमारजी हँस पड़े और बोले—"अब राजन् ! वह भगवान् कोई स्वादिष्ट स्थूल फल तो हैं नहीं, जो मैं तुम्हारे हाथ में पकड़ा दूँ। वे शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, बुद्धि तथा अहङ्कार से आवृत्त, स्थावर जंगम जितने जीव हैं, सबके हृदय मे अन्तर्यामी रूप से व्याप्त हैं, वे स्वयं प्रकाश हैं, सर्वव्यापी हैं। जान में अनजान में सभी उनका अनुभव करते हैं। किसी ने आकर किवाड़ी खटखटायी। हमने पूछा—"कौन है ?" बाहर वाला कहता—"जी कोई नहीं मैं हूँ।"

किसी के पैरों की पैछर सुनाई दी। हमने चौंककर पूछा—"कौन जा रहा है।" जाने वाले ने कहा—"मैं हूँ।" आप सोच राजन् ! यह मैं कौन है। जो अपने को अहं करके अनुभव करता है। आप यही निश्चय करें कि वह अहं को अनुभव करने वाला ही मैं आता है। मैं उससे भिन्न नहीं। वह अहं ही ब्रह्म है।

ब्रह्म के अतिरिक्त यह दृश्य जगत् कुछ नहीं हैं। जैसे ठूँठ को देखकर मनुष्य को भ्रम होता है। सीपी को देखकर रजत का भ्रम होता है, मृग मारीचिका को देखकर जल का भ्रम होता है। टेढ़ी मेढ़ी रज्जु को देखकर सर्प का भ्रम होता है। उसी प्रकार अविवेक के कारण शुद्ध, बुद्ध, सग रहित परमात्मा में यह कार्य कारण रूप दृश्य प्रपञ्च मिथ्याभास रहा है।

इस पर पृथु महाराज ने पूछा—"प्रभो ! किस भावना से यह मिथ्या प्रपञ्च विलीन हो।"

सनत्कुमार बोले—"राजन ! उन अत्यन्त शुद्ध, नित्यमुक्त ज्ञान स्वरूप कर्म से रहित भगवान् ही मेरी शरण हैं। अन्य सबकी आशा छोड़कर सर्वात्मभाव से भगवान् का ही आश्रय

रखना उन्हें ही जीवन सर्वस्व समझना यही स्वरूप ज्ञान का और मिथ्या प्रपञ्च की निवृति का उपाय है।"

पृथु महाराज बोले—"भगवन्! आपके कथनानुसार साधन तो बहुत हैं, हमें तो आप कोई सरल सर्वोपयोगी सरस साधन बताव।"

यह सुनकर सनत्कुमार जी ने कहा—"राजन! भगवान् तो सबके हृदय में बैठे हैं। सबको वे ही अपनी माया से घुमा रहे हैं। उनकी सत्ता के बिना किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं। वे दिखायी नहीं देते क्योंकि हृदय में एक बड़ी सी-गाँठ पड़ गयी है। अँगूठे के पोर के बराबर तो वे हैं ही, गाँठ की ओट में हो जाने से उनके दर्शन नहीं होते।"

पृथु बोले—"हाँ, भगवन्! यही तो मेरा प्रश्न है, कि यह हृदय की ग्रन्थि कैसे कटे? कैसे संशयों का छेदन हो। कैसे इन कर्म वासनाओं का क्षय हो?"

सनत्कुमार बोले—"राजन्! बहुत से योगी गण इस हृदय की ग्रन्थि को काटने के लिये अनेक कठिन कठिन उपाय करते हैं, कोई घोर तप करते हैं, कोई यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि वाले अष्टांग योग द्वारा अन्तर्मुख होकर हृदय ग्रन्थि का कीर्तन करना चाहते हैं। किन्तु जितना सुगमता से शरणागत प्रपन्न भक्त जन उन भक्तभयहारी श्रीमन्नारायण भगवान् वासुदेव के चरण कमल की कमनीय कान्ति के अनुराग के द्वारा यह हृदय ग्रन्थि कट सकती है, उतनी सरलता से अन्य किसी भी उपाय से नहीं कट सकती इसलिय राजन्! आप सौन्दर्य, माधुर्य, सर्व सद्गुणैक धाम भक्तभय भञ्जन भगवान् वासुदेव की सर्वात्मभाव से शरण मे जाओ। उन अरुण चरण की शीतल छाया में जाकर ही आपको शाश्वती शान्ति मिलेगी, वहाँ पहुँचकर आपके सर्व संशयों का मूलो-

च्छेदन हो सकेगा। यह संसार एक बड़ा भारी समुद्र है। इसमें बड़े-बड़े भयंकर जल जन्तु हैं, किन्तु इसमें बड़े वीभत्स मत्स्य हैं। उनके चक्कर में जो फँसा वह फिर इस संसार से निकल नहीं सकता।

महाराज पृथु ने पूछा—"प्रभो! वे छः नक्र कौन से हैं?"

सनत्कुमार बोले—"राजन्! आँख, कान, नाक, रसना, स्पर्शेन्द्रिय और मन ये छः ही ऐसे नक्र हैं, कि ये किसी को पार नहीं जाने देते। सभी को डुबा देते हैं, खा जाते हैं,। इन नक्रों से बच जाओ तो संसार सागर को पार कर जाओ।"

महाराज ने उत्सुकता से पूछा—"प्रभो! इन ६ महाग्राहों से कैसे बचें?"

सनत्कुमार बोले—"राजन्! समुद्र में वही डूबता है, जो निराधार हो जाता है। देखिये कमल जल में ही रहता है, नहीं डूबता। तुम भगवान् के विशाल अरुण कमल रूपी चरण की सुदृढ़ तरणी बनाकर उनका आश्रय ले लो। बस फिर आपको भय नहीं, आप बात की बात में इस दुस्तर असार संसार को सुगमता के साथ पर कर जायँगे। आप इस भवसागर से सदा के लिये मुक्त हो जायँगे। राजन्! बिना अधिकारी बने साधन नहीं हो सकता। अतः निरन्तर विषयों से चित्त को हटाते रहो। बहिर्मुखी वृत्ति को सदा अन्तर्मुख करते रहो। जब तुम परम पद के अधिकारी हो जाओगे, तो तुम्हारे हृदय में स्वतः प्रकाश दिखाई देने लगेगा। कहीं बाहर से थोड़े ही आवेगा। शीशा है, उस पर धूलि जम गई है, धूलि के हटते ही उसमें अपना प्रतिबिंब स्पष्ट दीखने लगता है।"

महाराज पृथु ने पूछा—"प्रभो! हम यह कैसे जानें कि अब हम अधिकारी हो गये। यह हमें कौन बतावेगा, कि अब हम परम पद प्राप्त करने के यथार्थ पात्र बन गये।"

सनत्कुमार बोले—"राजन्! दूसरा कौन बतावेगा अपनी अन्तरात्मा ही बतावेगी। इस पर एक दृष्टान्त सुनिये। किसी गृहस्थी के घर में एक नई बहू आई। उसने पहिले कभी किसी के बच्चा पैदा होते नहीं देखा था। जब उसके प्रसूति का समय आया, तो उसने अपनी सास से कहा—"सासुजी! जब मेरे बच्चा हो, तो मुझे जगा देना, मैं पैदा होते ही मुन्ना का मुख देखना चाहती हूँ।"

हँसकर सासजी ने कहा—"बहू, घबड़ा मत। किसी दूसरे को जगाने की आवश्यकता न पड़ेगी। उस समय तू स्वयं ही सबको जगा देगी। स्वयं ही सबकी निद्रा भङ्ग कर देगी।" सो राजन्! जिन्हें परमार्थ पथ की पात्रता प्राप्त हो सकी है, उन्हे विषयों को छोड़ने के लिये किसी से पूछना न पड़ेगा। उस समय विषय स्वयं ही 'विषवत्' प्रतीत होंगे। जिस घर में आग लग जाती है, तो उस घर के लोग, घर छोड़ने के लिये पंडित से मुहूर्त पूछने नहीं जाते, स्वय ही शीघ्रता के साथ छोड देते हैं। किसी को पानी में डुबा दीजिये। सांस न लेने दीजिये। तो वह निकलने के लिये आप से पूछेगा नहीं आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा न करेगा, वह तो तिलमिलाकर अपने आप ही निकल आवेगा। जिस समय से हाड़ मांस की वस्तुएँ घृणित दिखाई दें। जिस समय ये सुन्दर दिखाई देने वाले पदार्थ पंचभूतों के विकार प्रतीत होने लगें। जिस समय इन मल मूत्र के स्थानों में आसक्ति न हो। जिस समय स्त्री के, भेड़ बकरी तथा पशुओं के लटकते मांसों मे कोई भेद-भाव न प्रतीत हो, तब समझना चाहिये, हमे संसार से विराग हो गया। हम मोक्ष मार्ग के अधिकारी हो गये। सूर्य उदित होने पर उसे दीपक लेकर दिखाना नहीं पड़ता। वह तो अपने आलोक से ही अपना अस्तित्व प्रकट कर देता है। इसलिये राजन्! आपको तो कुछ कर्तव्य हां नहीं, आप तो जो कुछ पूछते हैं सब

लोकहित के लिये पूछते हैं। यह मैंने अत्यंत संक्षेप में आपके प्रश्नों का उत्तर दे दिया, अब आप और क्या पूछना चाहते हैं ?"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! ब्रह्मपुत्र सनत्कुमारजी के मुख से तत्त्वज्ञान का ऐसा गूढ उपदेश सुनकर महाराज पृथु परम प्रसन्न हुए और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए, शिष्टाचार प्रदर्शित करने लगे।

छप्पय

*वासुदेव भगवान् भक्तिनें होवें वश जस।*
*योग याग विज्ञान आदि ते वश न होहिं तस॥*
*तातें तजि सब अन्य एक श्रीहरि आराधें।*
*छाड़ि क्लेश कर काम सुगम सो साधन साधें॥*
*शेष न साधन तुमहिं कछु, सब तुम परहित करत हो।*
*ह्रास धर्म को होहि जब, तब तब तुम तनु धरत हो॥*

---

# महाराज पृथु का शिष्टाचार तथा सनकादिकों की विदाई

[ २७६ ]

यैरीदृशी भगवतो गतिरात्मवादे
एकान्ततो निगमिभिः प्रतिपादिता नः ।
तुष्यन्त्वदभ्रकरुणाः स्वकृतेन नित्यम्
को नाम तत्प्रति करोति विनोदपात्रम् ॥ *

(श्री भा० ४ स्क० २२ अ०-४७ श्लो०)

### छप्पय

*नृप पृथु सनत्कुमार सुधामृत पान कर्यो जब ।*
*सब तनु पुलकित भयो कहैं ह्वैकें प्रसन्न तब ॥*
*प्रभो ! सुधारस प्याइ कर्यो कृत कृत्य कृपानिधि ।*
*पूजा प्रत्युपकार करहुँ हे मुनिवर किहि विधि ॥*
*तन मन धन सब आपको, का तुमकूँ अरपन करूँ ।*
*तातैं श्रद्धा सहित तव, चरन कमलमहँ सिर धरूँ ॥*

अत्यन्त क्षुधा तृषा से पीडित प्राणी को जो पुनीत पदार्थ पाने और पावन पेय पीने से प्रसन्नता होती है, उससे भी असंख्यों

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—'विदुरजी ! सनकादिकों के उपदेश को सुनकर उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए महाराज पृथु कहने लगे—

गुनी प्रसन्नता ज्ञान पिपासु को ज्ञानामृत पान करने से होती है। जो कृपालु गुरु कृपावश हमारी क्षुधा तृषा को शांत करते हैं, हमें ज्ञानामृत पान कराते हैं, उनके प्रति हृदय से रोम-रोम से कृतज्ञता फूट निकलती है। उन अनुपम उपकार करने वाले सद्गुरु के चरणों में हम कौन-सी वस्तु अर्पण करके अपने श्रद्धा को व्यक्त करें यह हृदय में ऊहापोह होने लगती है। यद्यपि कृपालु गुरु ने किसी आकांक्षा से नहीं, दयावश ही हम पर अपनी कृपा की वृष्टि की है, किन्तु तो भी रहा नहीं जाता, और कुछ नहीं तो वाणी मात्र से ही उनके प्रति हम अपना आभार प्रदर्शित करते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! सनत्कुमार भगवान् के उपदेश को श्रवण करके महाराज पृथु का रोम-रोम खिल उठा। वे कुमारों की इस अहैतुकी कृपा भार से दब गये। वे उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहने लगे—"ब्रह्मन्! किन शब्दों में, क्या कहकर मैं आपके इस उपकार के प्रति आभार प्रदर्शन करूँ। वाणी में वह शक्ति नहीं, कि शब्दों द्वारा हृदय के यथार्थ भावों को व्यक्त कर सकें। हृदय की भाषा तो मूक बताई गई है और उसे सहृदय ही पढ़ सकते हैं। मेरे ऐसे कोई पुण्य तो थे नहीं, जो आपके देव दुर्लभ दर्शनों को प्राप्त कर सकता, किन्तु कृपा सागर भगवान यज्ञपति ने अपनी अहैतुकी कृपा वश मुझे दर्शन दिये थे उसी कृपा का मैं यह फल समझता हूँ,

---

भगवन्! आप वद क पारगामी हैं। आपने आत्मतत्व का विचार करते हुए जो इस प्रकार भगवत्तत्व का निरूपण किया है, उसका बदला कोई क्या चुका सकता है। अब आप अपने अनुरूप दीन दयालुता रूपी कर्म से ही सदा सन्तुष्ट हो। क्योंकि आप परम कृपालु हैं, अतः आपके प्रत्युपकार के लिये प्रयत्न करना भी हास्यास्पद है।"

कि उसमें कुछ कोर कसर रह गयी होगी, तो उसे ही पूर्ण करने आप निःसग होकर भी स्वतः मेरे यहाँ पधारे और मुझे अपने अनुपम दर्शनों से कृतकृत्य किया।"

यह प्राचीन परिपाटी है, कि ज्ञान दाता गुरु को उनके उपकार के प्रति प्रत्युपकार रूप से कुछ गुरु दक्षिणा दें। मैं भी बार बार सोच रहा हूँ, आपके चरणों मे क्या भेंट करूँ। यह मेरा शरीर है धन है सर्वस्व है, वह तो सब आपका ही दिया हुआ है। फिर भी जो कुछ मेरे पास धन जन, तन, मन, प्राण, परिवार, स्त्री, पुत्र, घर, द्वार, राजपाट, सेना, सिपाही, पृथ्वी, कोष, खजाना तथा सम्पूर्ण सामग्रियाँ हैं वे सब आपकी वस्तुएँ आपके ही चरणों में ही समर्पित करता हूँ।

यह सुनकर चारों कुमार हँस पडे उनमें से सनातनजी बोले—"राजन्! यह आपने अच्छी चीज दी। सम्पूर्ण भू मडल का राज्य ही दे दिया। हम लोग तो वस्त्र भी नहीं पहिनते। इस नंग धडङ्ग शरीर पर छत्र चँवर, मुकुट क्या शोभा देंगे। फिर हम लोग राज पाट करना क्या जाने?"

पृथु महाराज ने कहा—"नहीं भगवन! यह बात नहीं। आप सब जानते हैं। जिन्हें परात्पर ब्रह्म का ज्ञान है, उनके लिए इस लोक की परलोक की कोई वस्तु अज्ञेय नहीं है। वे सब कर सकते हैं मन्त्र विद्यायें वेद से ही उत्पन्न हुई हैं, अतः वेद को जान लेने वाला ब्राह्मण कुशलतापूर्वक सेनापतित्व कर सकता है सम्पूर्ण वसुन्धरा का राज्य कर सकता है। उत्तम से उत्तम उपयोगी से उपयोगी दण्ड विधान बना सकता है। आप इस पृथ्वी की तो बात ही क्या है, ब्रह्माण्ड भर का शासन कर सकते हैं और करते ही हैं।"

इस पर सनत्कुमारजी बोले—"राजन्! अजी ऐसी बातें

क्यों कर रहे हैं। हम तो स्वयं ही माँगते खाते हैं। भिखारी ब्राह्मण हैं।"

हाथ जोड़कर महाराज पृथु बोले—"अजी, महाराज! आप किससे भीख माँगते हैं? संसार आप से ही भीख माँगता है। वेदविद् ब्राह्मण अपना ही भोजन करता है, अपने ही वस्त्र पहिनता है। यही नहीं अन्य सभी लोग उन्हीं की अनुग्रह से खाते पीते और पहिनते हैं।"

सनत्कुमार ने कहा—"राजन्! इतनी शिष्टता, शालीनता आपके अनुरूप ही है।"

महाराज पृथु बोले—"भगवन्! मैं शिष्टता से कह रहा हूँ। यथार्थ में मैं इस असमञ्जस में पड़ा हुआ हूँ, कि कौन-सी वस्तु समर्पित करके आपके प्रति कृतज्ञता प्रकट करूँ। किन्तु आपकी तुष्टि के योग्य कोई वस्तु दिखाई ही नहीं देती। अतः आप अपनी भक्तवत्सलता से ही अपने आप सन्तुष्ट हों। आपने एक संसार सागर में डूबते हुए का उद्धार किया, ऐसे उपकार से जो एक प्रकार की आत्मतुष्टि होती है। उस तुष्टि द्वारा ही आप सन्तुष्ट हों।"

इस पर चारों कुमारों ने कहा—"राजन्! आपका कल्याण हो। आपने हमारा बड़ा स्वागत सत्कार किया। हम आपके सदा चार से, सौजन्य से, शिष्टता से बड़े ही सन्तुष्ट हुए। अच्छा अब हम जाते हैं।"

इतना सुनते ही महाराज ने शीघ्रता पूर्वक उनका पूजन किया। महाराज की पूजा को स्वीकार करके सबके देखते देखते चारों कुमार फर्श से आकाश मार्ग से जैसे आये थे, वैसे ही उड़ गये।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! सनकादिक मुनियों के चले जाने पर महाराज पृथु धर्मपूर्वक चारों वर्णों की प्रजा का

प्रेम से पालन करने लगे। यथार्थ में राजा नाम तो महाराज पृथु का ही सार्थक था। जो प्रजा रञ्जन करे वही राजा है जैसे जो जगत् को आह्लादित करे वही चन्द्रमा है। इस पर वे ही चन्द्र का काम करते थे। जैसे सूर्य उष्णकाल में जल को खींचकर वर्षा काल में प्रजा के हित के लिए वर्षा देते हैं, वैसे ही वे जनता से कर के रूप मे रुपये लेते थे और उन्हें प्रजा के हित में लगा देते थे। जैसे अग्नि में कोई सहसा स्पर्श नहीं कर सकता वैसे ही वे अपने प्रचण्ड तेज से अग्नि के समान थे। जैसे इन्द्र वर्षा करके सबको सुखी करते हैं, वैसे ही वे वाञ्छित वस्तुओं का वितरण करके समस्त प्रजा को प्रमुदित बनाते थे। जैसे समुद्र की थाह कोई नहीं जान सकता उसी प्रकार उनका गाम्भीर्य भी ऐसा अथाह था, कि उसकी थाह किसी को मिलनी अत्यन्त दुष्कर थी। सहनशीलता में वे वसुन्धरा के समान थे और कामना पूर्ति के कार्य में वे कल्पवृक्ष के सदृश थे। वे माता के समान दयालु थे, किन्तु जहाँ दुष्टों के दमन का कार्य आता, वहाँ दुर्दान्त यमराज के समान उग्र बन जाते। जैसे हिमालय की सभी जडी-बूटियों के सम्बन्ध में कोई जान नहीं सकता उसी प्रकार उनके पास कितना दिव्य रत्न है, कितनी आश्चर्यकारिणी अद्भुत वस्तुएँ हैं, इसे कोई जान नहीं सकता था। धन उन पर इतना था, कि उनके धन को देखकर धनद भी लजा जाते थे। बल, वीर्य ओज आदि में भगवान् भूतनाथ के समान वे थे। कुसुमायुध के समान सौन्दर्य मे, सिंह के समान धैर्य में, मनु के समान वात्सल्य में और पितामह ब्रह्मा के समान वे प्रभुत्व में थे।

विचार करने में देव गुरु बृहस्पति के समान आत्म तत्व में साक्षात् भगवान् विष्णु के समान थे। अधिक क्या कहें वे गो भक्ति ब्रह्मण्यता, भक्ति, लज्जा विनय, शील परोपकार में अपने ही समान थे। दिग्दिगान्त में उनका यश व्याप्त था। सम्पूर्ण

भुवन मण्डल में उनकी कमनीय कीर्ति फैली हुई थी वे अवधकुल मण्डल कौशिल्यानन्द वर्धन रघुकुल कीर्ति केतुभूत भगवान् श्रीराम के समान सर्वप्रिय और श्लाघनीय गुण वाले थे। महारानी अर्चि के द्वारा उनके विजिताश्व, धूम्रकेश, हर्यक्ष द्रविण और वृक नामक पाँच पुत्र हुए जो पिता के समान तेजस्वी थे, वे अकेले ही आठों लोकपालों के समान तेजस्वी और प्रज्ञावान् थे। कुमारों के द्वारा ब्रह्मज्ञान का उपदेश पाकर वे कृतकृत्य हो गये उनके सभी संशयों का छेदन हो गया।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह कुछ गोल माल से बात समझ में नहीं आती। महाराज! पृथु को भी आप अवतार बताते हैं, सनकादिक कुमारों की भी गणना अवतारों में है। महाराज पृथु के यज्ञ में भगवान् विष्णु ने भी उन्हें उपदेश दिया। महाराज पृथु जब भगवान् के अवतार ही थे, तो उन्हें संशय कैसे रहा। उनके हृदय में अज्ञान की ग्रन्थि कैसे रह गई जिसे कुमारों ने अपने ज्ञान रूप खड्ग से काटा।"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज! जैसा स्वाँग करना होता है, वैसा ही बाना बनाया जाता है। इस पर एक दृष्टान्त सुनिये। एक राजा के यहाँ एक बहुरूपिया था, वह कभी भिखारी बन आता, कभी नाई, धोबी, यात्री आदि आदि। राजा ने एक दिन कहा—"भाई, ये सब तो वेष हमने देखे हैं, कोई विलक्षण त्याग का वेष दिखाओ।"

उसने कहा—"अन्नदाता! हम तो पेट पालने वाले हैं, त्यागी का वेष तो कठिन है।"

राजा ने हठ किया—"नहीं, भाई! दिखाना ही पड़ेगा। तब उसने कहा—"महाराज! मुझे ६ महीने की छुट्टी मिले।"

उसे छुट्टी मिल गई, बात पुरानी हो गई। राजा भूल भाल गया। उसके २४ महीने के पश्चात् राजा ने सुना पास की झाड़ी

में एक बड़े विरक्त महात्मा पधारे हैं। ऐंडी तक जटायें हैं मौन रहते हैं कोई कुछ भी दे तो लेते नहीं, किसी की ओर देखते नहीं। राजा धार्मिक थे, ऐसे अद्भुत महात्मा के दर्शनों की उनके मन में इच्छा हुई। रानियों के सहित गये। देखा, सम्पूर्ण शरीर में गाढ़ी-गाढ़ी राख लपेटे एक केला का कौपीन लगाये महात्मा बैठे हैं। दृष्टि नाक के अग्र भाग पर लगी है हजारों नर नारियों की भीड़ लगी है। राजा को त्यागी के चमत्कार से बड़ा आश्चर्य हुआ। वे बड़ी श्रद्धा से गये प्रणाम करके बैठ गये। साधु, महात्मा, देवता, राजा के पास बिना भेंट लिये जाना नहीं चाहिये। अतः राजा ने सुवर्ण की बहुत सी-गिन्नियाँ थाल भर के मोती वस्त्र आभूषण महात्मा को भेंट किये। हाथ जोड़ कर पूछा—"महाराज! मेरे योग्य कोई सेवा बतावें।" महात्माजी ने संकेत किया—"तुम यहाँ से चले जाओ यही सेवा है।" राजा बैठे ही रहे और बोले—"इस सब कूड़े करकट को उठा ले जाओ।" राजा समझे नहीं फिर आग्रह किया। महात्मा जी ने सबको उठाकर फेंक दिया। फिर राजा की ओर पीठ करके अपने ध्यान में मग्न हो गये। उनकी ऐसी निष्पृहता देख कर महाराज को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उन्हें प्रणाम करके उठकर चल दिये। राजा थोड़ी ही दूर पहुँचे होंगे कि महात्मा अपनी दाढ़ी जटा फेंककर उनके सम्मुख प्रणाम करते हुए बोला—"महाराज की जय जयकार हो अब मुझे पारितोषिक मिलना चाहिये।"

महाराज ने ध्यान से देखा यह तो वही बहुरूपिया है, तब महाराज हँसते हुए बोले—"अरे, भैया! तैंने तो बड़ा ढोंग बनाया। उस समय इतना धन हमने दिया था, उसे क्यों फेंक दिया। अब थोड़े से धन को गिडगिड़ाता है।" उसने कहा—"महाराज! उस समय मैं धन ले लेता तो त्यागी का स्वांग पूरा

भुवन मण्डल में उनकी कमनीय कीर्ति फैली हुई थी वे अवधकुल मण्डल कौशिल्यानन्द वर्धन रघुकुल कीर्ति केतुभूत भगवान् श्रीराम के समान सर्वप्रिय और श्लाघनीय गुण वाले थे। महारानी अर्चि के द्वारा उनके विजिताश्व, धूम्रकेश, हर्यक्ष द्रविण और वृक नामक पाँच पुत्र हुए जो पिता के समान तेजस्वी थे, वे अकेले ही आठों लोकपालों के समान तेजस्वी और प्रजावान् थे। कुमारों के द्वारा ब्रह्मज्ञान का उपदेश पाकर वे कृतकृत्य हो गये उनके सभी संशयों का छेदन हो गया।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह कुछ गोल माल से बात समझ में नहीं आती। महाराज! पृथु को भी आप अवतार बताते हैं, सनकादिक कुमारों की भी गणना अवतारों में है। महाराज पृथु के यज्ञ में भगवान् विष्णु ने भी उन्हें उपदेश दिया। महाराज पृथु जब भगवान् के अवतार ही थे, तो उन्हें संशय कैसे रहा। उनके हृदय में अज्ञान की ग्रन्थि कैसे रह गई जिसे कुमारों ने अपने ज्ञान रूप खड्ग से काटा।"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज! जैसा स्वाँग करना होता है, वैसा ही बाना बनाया जाता है। इस पर एक दृष्टान्त सुनिये। एक राजा के यहाँ एक बहुरूपिया था, वह कभी भिखारी बन आता, कभी नाई, धोबी, यात्री आदि आदि। राजा ने एक दिन कहा—"भाई, ये सब तो वेष हमने देखे हैं, कोई विलक्षण त्याग का वेष दिखाओ।"

उसने कहा—"अन्नदाता! हम तो पेट पालने वाले हैं, त्यागी का वेष तो कठिन है।"

राजा ने हठ किया—"नहीं, भाई! दिखाना ही पड़ेगा। तब उसने कहा—"महाराज! मुझे ६ महीने की छुट्टी मिले।"

उसे छुट्टी मिल गई, बात पुरानी हो गई। राजा भूल भाल गया। उसके २४ महीने के पश्चात् राजा ने सुना पास की भाड़ी

में एक बड़े विरक्त महात्मा पधारे हैं। ऐंडी तक जटायें हैं मौन रहते हैं कोई कुछ भी दे तो लेते नहीं, किसी की ओर देखते नहीं। राजा धार्मिक थे, ऐसे अद्भुत महात्मा के दर्शनों की उनके मन मे इच्छा हुई। रानियों के सहित गये। देखा, सम्पूर्ण शरीर में गाढ़ी-गाढ़ी राख लपेटे एक केला का कोपीन लगाये महात्मा बैठे हैं। दृष्टि नाक के अग्र भाग पर लगी है हजारों नर नारियों की भीड़ लगी है। राजा को त्यागी के चमत्कार से बडा आश्चर्य हुआ। वे बड़ी श्रद्धा से गये प्रणाम करके बैठ गये। साधु, महात्मा, देवता, राजा के पास बिना भेंट लिये जाना नहीं चाहिये। अतः राजा ने सुवर्ण की बहुत सी-गिन्नियाँ थाल भर के मोती वस्त्र आभूषण महात्मा को भेंट किये। हाथ जोड कर पूछा—"महाराज! मेरे योग्य कोई सेवा बतावें।" महात्माजी ने संकेत किया—"तुम यहाँ से चले जाओ यही सेवा है।" राजा बैठे ही रहे और बोले—"इस सब कूड़े करकट को उठा ले जाओ।" राजा समझे नहीं फिर आग्रह किया। महात्मा जी ने सबको उठाकर फेंक दिया। फिर राजा की ओर पीठ करके अपने ध्यान में मग्न हो गये। उनकी ऐसी निष्पृहता देख कर महाराज को बडा आश्चर्य हुआ। वे अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उन्हें प्रणाम करके उठकर चल दिये। राजा थोडी ही दूर पहुँचे होंगे कि महात्मा अपनी दाढी जटा फेंककर उनके सम्मुख प्रणाम करते हुए बोला—"महाराज की जय जयकार हो अब मुझे पारितोषिक मिलना चाहिये।"

महाराज ने ध्यान से देखा यह तो वही बहुरूपिया है, तब महाराज हँसते हुए बोले—"अरे, भैया! तैंने तो बडा ढोंग बनाया। उस समय इतना धन हमने दिया था, उसे क्यों फेंक दिया। अब थोड़े से धन को गिड़गिडाता है।" उसने कहा—"महाराज! उस समय मैं धन ले लेता तो त्यागी का स्वांग पूरा

न उतरता। यह तो पाखण्डियों का स्वाँग हो जाता। उस र
मैं त्यागी का स्वाँग कर रहा था, कोई राज्य भी देता तो तृ
समान समझता। अब आपका बहुरूपिया हूँ। एक पैस
पारितोषिक में मिल जाय तो बहुत है। बाने के अनुसार व्य
करना यही बाना बनाने की चातुरी है। महाराज बड़े प्रसन्न
और उसे बहुत-सा द्रव्य दिया।

एक दिन महाराज ने उससे फिर कहा। देखो, भाई संस
सती और संत दो ही श्रेष्ठ माने गये हैं। संत का स्वाँग तो
दिखा दिया। सती का और दिखाओ।"

बहुरूपिये ने कहा—"महाराज, सती का स्वाँग सरल
उसे मैं दिखाने में असमर्थ हूँ।"

राजाओं की तो हठ ही ठहरी बार-बार कहा—"नहीं, दिखाना
पड़ेगा।" तब उसने कहा—"अच्छी बात है महाराज मेरे बाल
बच्चों की रक्षा करें यह कहकर चला गया। बात पुरानी हो
गई। कुछ काल के पश्चात् राजा को समाचार मिला, कोई एक
सती अपने पति की लाश लिये बैठी है उसकी इच्छा है मेरे
पति की सुन्दर चिता बनाई जाय और महाराज के सम्मुख मैं
सती होऊँ।"

राजा धर्मात्मा थे, उन्होंने आज्ञा दी। चिता बनाई गई। सती
ने सोलह शृङ्गार किये। चिता जलाई गई, सती ने उसकी प्रदक्षिणा
की और पति का शव गोद में लेकर दहकती हुई चिता में बैठ गई।
जब अग्नि उसके शरीर को जलाने लगी तब उसने जोर से कहा—
"महाराज, यही सती का सच्चा स्वाँग है।" तब तो महाराज बड़े
घबड़ाये और शीघ्रता से कहने लगे—"अरे, इस मुर्दे को छोड़कर
अग्नि से निकल आ। सेवकों से बोले—"अरे, शीघ्र जल लाकर
अग्नि को बुझाओ इस बहुरूपिये को बचाओ।"

इस पर उसने उत्तर दिया—"राजन्! यदि मैं इस पति बने

हुए मुर्दे को छोड़कर दहकती अग्नि से इसी वेष में भागता हूँ, तो पतिव्रता के बाने को लाछन लग जायगा। सती का स्वाँग पूरा न उतरेगा। जो सती अग्नि के दाह से पति के शव को छोड़कर भय से भागती है, वह सती नहीं असती है। इसलिये मैं अब भाग नहीं सकता। अग्नि बुताना भी धर्म के विरुद्ध है। अत: अब तो सती के स्वाँग को साङ्गोपाङ्ग पूरा ही उतरने दीजिये। वेष को लाछन न होने दें। बाने की पूर्ण रक्षा होने दें। यह कहते-कहते बहुरूपिया जल गया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् जैसा वेष बनाते हैं, उसका यथावत् पालन करते है। पृथु शरीर में राजा का वेष बनाया था। उसी के अनुसार यज्ञ किये, सनकादिकों के सम्मुख अपने को अज्ञानी सशयग्रस्त बताकर आत्मतत्व की जिज्ञासा की, ज्ञान प्राप्त किया, उनकी पूजा की, अपने को कृत कृत्य समझा। यह सब भगवान् की माया है, लीला है, क्रीडा है, और जो है सो।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! सनकादिकों के उपदेश से महाराज पृथु को ससार के सभी भोगों से विराग हो गया।"

छप्पय

*विदुर! विष्णु नट कुशल विविध विधि वेष बनावें।*
*बनि ठनि जगमहँ स्वयं नचे अरु सबनि नचावें॥*
*जस जस बाने धरें आइ तस भाव दिखावें।*
*सुर, नर, मुनि, गन्धर्व खेल को पार न पावें॥*
*रग मंच यह दृश्य जग, नाटक जगके काज हैं।*
*यह माया ठगिनी नटी, निर्विकार नटराज हैं॥*

# महाराज पृथु का वन गमन

[ २८० ]

दृष्ट्वात्मानं प्रवयसमेकदा वैन्य आत्मवान् ।
आत्मना वर्धिताशेषस्वानुसर्गः प्रजापतिः ॥
आत्मजेष्वात्मजां न्यस्य विरहाद्रुदतीमिव ।
प्रजासु विमनः स्वेकः सदारोऽगात्तपोवनम् ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० २३ अ० १, ३ श्लोक)

छप्पय

*भूमि विषम सम करी नगर पुर ग्राम बसाये ।*
*जरा जानि जनराज तपोवन सब तजि धाये ॥*
*पृथिवी पुत्री विरह व्यथामहँ अश्रु विमोचति ।*
*तजी प्रजा सब दुखी विरहमहँ विलखति रोवति ॥*
*सबतें मुहकूँ मोरिकें, निर्मोही नृपति भये ।*
*पत्नी लीन्हीं संग महँ, वानप्रस्थ बनि वन गये ॥*

सनातन वैदिक वर्णाश्रम धर्म का लक्ष्य त्याग है। त्याग के बिना न शाश्वती शान्ति है न सुख। धन का संग्रह गृहस्थ में भोग के लिये नहीं किया जाता, अपितु त्याग के लिये किया जाता है, धर्म का आचरण काम के लिये नहीं, किन्तु महान् त्याग की

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—विदुरजी ! आत्मवान प्रजापति महाराज पृथु जब प्रजादि तथा निवासादि सर्ग की वृद्धि कर चुके तब एक दिन अपनी वृद्धावस्था को उन्होंने आती देखकर अपनी कन्या रूपी पुत्री

तैयारियाँ करने के लिये होता है। जितनी उत्सुकता से, जितने ही प्रसन्नता से सग्रह किया जाय उतनी ही प्रसन्नता से उसका त्याग किया जाय, तब वह सग्रह त्याग के लिये समझा जाता है। तब वह बन्धन मोक्ष का साधन है। यदि विषयासक्त होकर सग्रह किया जाय तो वह ससार में बाँधने वाला और आवागमन के चक्कर का दृढ करने वाला होता है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! महाराज पृथु ने उत्पन्न होकर प्रजा की, व्यवस्था ठीक की। नगर पुर ग्रामों की कल्पनायें का। शिल्प, वाणिज्य व्यवसाय की व्यवस्था की। कृषि करने की सुविधायें की। नियम आदि बनाये। विवाह किया, पुत्र उत्पन्न किये, राज्य के सब सुख भोगे, नाना यज्ञ याग किये, विविध भाँति के दान धर्म किये। अतुलनीय यश का सम्पादन किया। इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम का भली भाँति सम्पादन करके अब वे मोक्ष की तैयारियाँ करने लगे। त्याग धर्म की दीक्षा लेने को तत्पर हुए।

एक दिन उन्होंने अपने सबसे ज्येष्ठ, गुणों में श्रेष्ठ पुत्र विजिताश्व को बुलाकर कहा—'बेटा! मुझे जो लौकिक कार्य करने थे उन सबको तो मैं कर चुका। अब मेरी इच्छा है, कि मैं परलोक के लिये भी कुछ पूँजी कमाऊँ। अपने मोक्ष मार्ग को भी परिष्कृत करूँगा। अब तुम इस राज पाट को सम्हालो। धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करो। सर्वान्तर्यामी प्रभु तुम्हारा कल्याण करेंगे।"

महाराज की आज्ञा को सुयोग्य राजकुमार ने सिर से स्वीकार

---

पृथ्वी को सौंप दिया। पिता पृथु के वियोग में पृथ्वी रो भी रही थी। सम्पूर्ण प्रजा बिलख रही थी। उन सबको उसी दशा में छोड़कर अपनी स्त्री के सहित अकेले ही महाराज तपोवन चले गये।

किया। रोते रोते उसने पिता के पैर पकड़ लिये। बात सर्वत्र फैल गयी। प्रजा के सभी मुख्य मुख्य जन एकत्रित हुए। सभी ने रो रोकर महाराज से प्रार्थना की—"प्रभो! आप अभी हमारा त्याग न करें हमारा जैसे अब तक पिता की तरह पालन करते थे उसी प्रकार और भी करें। किन्तु वे तो सज्जनाग्रणी थे, सदाचार का पालन करने वाले महामना मनस्वी थे। उन्होंने राज्य पाट को मन से त्याग दिया था, अतः फिर उन्होंने राज-काज करना स्वीकार नहीं किया।

वे अपनी धर्मपत्नी अर्चिदेवी के साथ सर्वस्व त्यागकर वल्कल वस्त्र पहिन कर वन के लिए चलने लगे। विरह व्यथा से बिलखती हुई अपनी प्रजा को ज्यों-का-त्यों ही छोड़कर महाराज बिना किसी को साथ लिये हुए चल दिये।

महाराज पृथु बड़े पुरुषार्थी थे। उत्साही पुरुष जिस काम में लगता है उसी को बड़ी तत्परता से करता है। अब तक महाराज की समस्त शक्ति का व्यय प्रजा के पालन में होता था। अब वह प्रवाह पलटकर तपस्या में लग गया।

विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! महाराज पृथु तपोवन में जा कर कैसी तपस्या करते थे?"

इस पर मैत्रेय मुनि बोले—"देखिये, विदुरजी! वानप्रस्थ के माने हैं, जो भली प्रकार वन में स्थित रहे, ग्राम्य धर्मों का त्याग कर दे, सहधर्मिणी के साथ रहने पर भी सदा ब्रह्मचर्य व्रत मे रहे। हल से जोते बोये ग्राम्य अन्न को न खाय, सभी विषयों का त्याग कर दे। कन्द, मूल, आदि का आहार करे। महाराज पृथु ने पहिले तो कुछ दिनों तक वन में उत्पन्न होने वाले, कन्द-मूल फलों का आहार किया। फिर उनको भी छोड़कर पेड से अपने आप गिरे पत्तों को ही खाकर रहे।"

इस पर विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! सूखे पत्ते खाने का क्या तात्पर्य है?"

मैत्रेय मुनि ने कहा—"देखिये, विदुरजी! जितने ये वृक्ष हैं, घास पत्ते हैं, सबमें जीव हैं, किन्तु जीवन निवाह जितनी भी कम हिंसा किये हुए व्यतीत हो उतना ही श्रेष्ठ है। जीव तो सबमें समान रूप से व्याप्त है, किन्तु उसका प्रकाश पात्र भेद में कम अधिक होता है। मनुष्यों की अपेक्षा बुद्धिजीवी पशुओं में कम, उनसे भी कम कीट पतङ्ग आदि उनसे भी कम वृक्षों में, उनसे भी कम वृक्षों की अन्न आदि जो गेहूँ आदि ओषधियों में, उनसे भी कम पाषाण आदि में। वृक्ष से अपने आप गिरे सूखे पत्तों में कम से कम हिंसा है। फिर कुछ काल पत्ते भी छोड़कर महाराज पृथु जल पीकर ही रहने लगे। फिर अन्त में जल को छोड़कर वायु के ही आधार पर रहकर तपस्या करने लगे।

विदुरजी ने पूछा—"भगवन! महाराज पृथु कैसी तपस्या करते थे?"

इस पर मैत्रेय मुनि कहने लगे—"विदुरजी! मौन रहना यह सबसे बड़ा तप है। महाराज पृथु ने सबसे पहिले वाणी पर संयम किया। ग्रीष्म काल में जब सूर्य भगवान् अपनी प्रचण्ड किरणों से सबको सन्तप्त करते थे, तब महाराज खुले स्थान में बैठकर अपने चारों ओर अग्नि जलाते ऊपर सूर्य नारायण तपते थे। जब वर्षा ऋतु आती तो खुले स्थान में बैठे रहते। मूसलाधार पानी को अपने सिर पर सहन करते। जब शीतकाल आता तब, नदी के बरफ के समान ठण्डे जल में डूबे रहते थे वे न खाट पर सोते थे, न तखत पर, बिना बिछाये मिट्टी के लिपे पुते चबूतरे पर ही तृण डालकर पड़े रहते।

इस प्रकार तपस्या के द्वारा शीतोष्ण आदि द्वन्द्वों को सहन करते हुए, मन, वाणी और इन्द्रियों के विषयों के संयम द्वारा

प्राणों को जीत कर मन के सहित ६ इन्द्रियाँ हैं उन पर विजय प्राप्त कर ली। उनका वासनारूप बन्धन कट गया।

इस पर विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! उन महाराज पृथु की पत्नी तो बडो सुकुमारी थीं। उन्होंने अपने पति के साथ ये कष्ट किस प्रकार सहन किये होंगे?"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! विषयो मे न सुख है न दुख। ये सब तो मन के धर्म हैं। मन जिसमे सुख मान लेता है, वही सुखद प्रतीत होता है, जिसमे दुःख मानता है, वह दुखद हो जाती है। यह सत्य है कि महारानी अर्चि इतनी सुकुमारी थीं, खाली पृथ्वी पर पैर रखने मे भी उन्हें कष्ट होता था। मखमल की मुलायम जूतियों से गुलगुले गद्दों पर चलने से भी उनके चरण अत्यधिक अरुण वरण के बन जाते थे, किन्तु इन सब विषयों से अधिक प्रिय उन्हें अपने पति का प्रेम था। महाराज पृथु घोर तपस्या करते थे, अर्चिदेवी सदा उनकी सेवा में सलग्न रहती थीं। अपने हाथ से कुटी को झाडतीं। अग्निहोत्र, पूजा आदि की सामग्रियों को जुटातीं गोबर से लीपतीं। महाराज जो भी आहार करते उसका प्रबन्ध करतीं और हाथ जोडे उनकी सेवा में सदा तत्पर रहतीं।"

विदुरजी ने पूछा—"प्रभो यह सब तो सत्य है, किन्तु वे इतना कष्ट किस बल पर सहन कर लेती थीं। मनुष्य किसी आशा से किसी प्रबल प्रलोभन के वशीभूत होकर न करने योग्य काम को भी कर जाता है, प्राणों की बाजी लगा देता है, हँसते-हँसते प्राणों को त्याग देता है उन्हें वन में ऐसा कौन सा प्रलोभन था।

मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! पति का प्रेम प्राप्त करना, क्या कुछ कम प्रलोभन है। मेरे प्राणनाथ मुझपर प्रसन्न हों, मेरा सर्वस्व उन्हीं का है, उनकी सेवा करना मेरा परम कर्तव्य महान्

धर्म है। यही धर्म सम्बन्धी प्रलोभन था। नहीं तो उन्हें वहाँ वन मे शरीर सम्बन्धी तो कष्ट ही कष्ट था। कभी दुख सहने का अवसर नहीं आया था, अपने हाथों से कभी काम किया हो नहीं था। एक तो कडवे कसैले फलों का आहार, दूसरे दिन भर परिश्रम करना, इससे वे बहुत दुर्बल हो गई थीं। दिन भर काम करते करते उनका मुख म्लान हो जाता था किन्तु जहाँ महाराज ने उनके सिर पर प्रेमपूर्वक हाथ फेरा, तहाँ प्रियतम के सम्मान पूर्वक कर स्पर्श को पाकर उनकी समस्त थकान मिट जाती थी। वे आनन्द में विभोर होकर दूने उत्साह से कार्य करने लगती थीं।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार महाराज पृथु और महारानी अर्चि घोर तपस्या करते हुए वनवास करने लगे। वानप्रस्थ धर्म का पालन करने लगे।

छप्पय

*बसिके वनमहँ भूप अखिल पतिकूँ आराधें।*
*योग ध्यान महँ निरत नियम व्रत मुनिके साधे॥*
*अति सुकुमारी अर्चि करे सेवा सब तजि सुख।*
*पाणि परस पति पाइ भुलावें वनके सब दुख॥*
कछु दिन खाये भूप फल, कछु दिन पय पत्ता परे।
वायु खाय कछु दिन रहे, यों इन्द्रिय गण वश करे॥

—:—

# पृथ्वी पति पृथु का परलोक प्रयाण

[ २८१ ]

देहं विपन्नाखिलचेतनादिकम्
पत्युः पृथिव्या दयितस्य चात्मनः ।
आलक्ष्य किञ्चिच्च विलप्य सा सती
चितामथारोपयदद्रिसानुनि ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० २३ अ० २१ श्लोक)

छप्पय

चैन तनय तप करें सङ्ग पतिप्राणा लैकें ।
भगवत् चिन्तन करत प्रेम प्लावित हिय ह्वैकें ॥
कर्यो वासना रूप बन्ध मन शुद्ध भयो जब ।
अन्त काल ढिँग जानि मन्नमय भये भूप तब ॥
त्याग ज्ञान वैराग्यतें, हृदय भक्ति भावित भयो ।
तब अहि केंचुल जीर्ण पट, सम नृपति तनुतजि दयो ॥

संसार में सबसे बड़ा भय मृत्यु का है। मनुष्य इस मृत्यु रूप सर्प के ही भय से बचने के लिए भागता फिरता है, भाँति-

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं "विदुरजी ! महारानी अर्चिदेवी ने पृथ्वीपति अपने प्रियतम प्राणनाथ के देह को चेतना के सम्पूर्ण धर्मों से रहित अर्थात् मृतक देखा, तो पहिले तो उस सती ने कुछ विलाप किया । फिर पर्वत के ऊपर चिता चुनकर उसमे उस प्राण शून्य शरीर को रख दिया ।

भाँति के उपाय करता है। रात्रि में मत निकलो, कोई मार डालेगा। जंगल में मत जाओ कोई हिंस्र जन्तु मार डालेगा। इस रोग की सब शक्ति लगाकर औषधि करो नहीं मर जायँगे। जैसे बने तैसे धन इकट्ठा करो जिससे शरीर सुखी बना रहे। कोई हमारे धन को न ले जाय, क्योंकि हम भूखों मर जायँगे। सारांश यह है, कि जो भी कुछ किया जाता है, सुखपूर्वक सदा जीवित रहने के लिये, मृत्यु से बचने के लिये किया जाता है। जिन्होंने जीते रहते हुए भी मरना सीख लिया है। अवश्यम्भावी मृत्यु पर जिन्होंने प्राणों के रहते ही विजय प्राप्त कर ली है, ऐसे लोग कभी मरते नहीं वे अमृतत्व को प्राप्त कर लेते हैं। इस लोक में हम जैसी मन की स्थिति प्राप्त कर लेंगे, परलोक में हमें वही लोक प्राप्त होगा। मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है। मृत्यु वास्तव में भयानक है किन्तु जो उसकी युक्ति जानते हैं उनके लिये वह सौम्य है, जैसे संखिया खाने की जो विधि नहीं जानता वैसे ही कच्चे संखिया को खाय तो वह मर जायगा, किन्तु उसे शोधकर युक्ति से खाने की विधि से खाय, तो शुद्ध हुआ संखिया अमृत का काम करता है। इसलिये मरने की विधि सीख लेना परमावश्यक है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! महाराज पृथु वन में रह कर सुखकर मृत्यु का अभ्यास करने लगे। स्वेच्छा मृत्यु की विधि के अभ्यास में तत्पर हुए।

शरीर का मोह बिना तप और तितिक्षा के छूटता नहीं। शरीर से ऐसी आसक्ति हो गई है, कि तनिक-सी असुविधा होते ही, प्राणी समझता है, मैं मरा मुझे बड़ा कष्ट है। शरीर से आत्मा पृथक् है और शरीर के दुःख-सुख के साथ आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं, इसकी उपलब्धि तितिक्षा और तप से ही होती है। इसलिये महाराज पृथु ने पहिले घोर तप किया। तप से

जब शरीर का मोह छूट गया। तब उन्होंने इस नश्वर शरीर को त्यागने का विचार किया।

विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! महाराज पृथु ने इस इतने प्यारे शरीर को किस प्रकार त्यागा ?"

इस पर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! शरीर का क्या प्रिय। यह शरीर तो नश्वर है ही। आत्मज्ञान होने पर तो यह शरीर भारभूत हो जाता है। जिन्होंने मृत्यु की विधि समझ ली है, उन्हें प्राण त्यागने मे उतना भी कष्ट नहीं होता, जितना सर्प को कैंचुली त्यागने में होता है। जैसे मनुष्य स्वेच्छा से जीर्ण वस्त्रों को त्याग देता है वैसे ही ज्ञानी योगी इस शरीर को त्याग देता है। महाराज पृथु ने इस शरीर को ऐसे ही त्यागा। पहिले उन्होंने दृढ़ आसन मारकर गुदा के द्वार को ऐंड़ी से कसकर रोक लिया।"

विदुरजी ने पूछा—"महाराज! मल द्वार को ऐड़ी से रोकने का क्या कारण है ?"

मैत्रेय मुनि ने कहा—"विदुरजी! प्राण के निकलने के ९ द्वार हैं मल द्वार और मूत्र द्वार ये दो नीचे के द्वार हैं। दो कानों के, दो आँखों के, दो नाकों के और एक मुख का ये ७ ऊपर के द्वार हैं। अधोमार्ग से प्राण निकलेंगे तो अधोगति होगी और ऊपर के द्वारों से प्राण निकलेंगे,तो ऊर्ध्व गति होगी। एक दशम द्वार भी है, वह खोपड़ी से बन्द रहता है उस द्वार को भेदकर प्राण निकले तो मनुष्य आवागमन से मुक्त हो जाता है। इसीलिये योगी प्राण त्यागते समय इस बात की बड़ी सावधानी रखते हैं, कि हमारे प्राण इन ९ द्वार से न निकलने पावें। चाहें पुण्य लोक हो या पाप लोक दोनों ही बन्धन के हेतु हैं। इसलिये ज्ञानी ब्रह्मलोक तक की भी इच्छा नहीं करते। प्राण त्यागते समय इन देह के द्वारों

को रोके रहते हैं। ऐड़ी से गुदा के द्वार और सीवन को कस देने से दोनों ही द्वार रुक जाते हैं। अब प्राण नीचे की ओर न चलकर ऊपर की ओर उठते हैं। मूलाधार से वायु को धीरे-धीरे उठाकर नाभि देश में लाते हैं। नाभि से उदर में, उदर से हृदय में, हृदय से वक्षःस्थल में वहाँ से कण्ठ में लाते हैं। कण्ठ से ऊपर दोनों भ्रूकुटियों के बीच में स्थित आज्ञाचक्र में बड़ी ही सावधानी से लाना होता है, क्योंकि वहीं से ऊपर के सात द्वारों के मार्ग हैं। तनिक-सी भी असावधानी हुई कि मुंह से आँख, कान, नाक, मुँह किसी भी रास्ते से प्राण निकल सकते है। इस प्रकार निकलने से मनुष्य का आवागमन नहीं छूट सकता।

आज्ञाचक्र से प्राणों को सिर में लाते हैं, वहाँ पर विपर्यय क्रम से लय योग के द्वारा क्रम से तत्व को दूसरे में लीन करते हैं) उस समय सांसारिक भोगों से सर्वदा उपरति हो जाती है। जब प्राण वायु ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाती है तो उसे पञ्चभूतों की वायु में लीन कर देते हैं। देह का जितना पार्थिव तत्व है उसे पृथ्वी में लीन कर देते हैं। चक्षु आदि में जो तेज तत्व है उसे तेज में मिलाते हैं। हृदय आदि में जो पिंडाकाश है उसे महाकाश में लीन करते हैं। शरीर में जो रुधिर आदि जल के द्रव अंश हैं उसे जल मे लीन कर देते हैं। इस प्रकार इस पाँच भौतिक शरीर में जो परिछिन्न भौतिक तत्व हैं उन्हें महातत्वों में लीन करके फिर जिस क्रम से एक से दूसरे तत्व उत्पन्न हुए थे, उसके विपरीत क्रम से उनको लीन करते हैं। जैसे पृथ्वी तत्व को जल में, जल को अग्नि में, अग्नि को वायु मे और वायु को आकाश में लीन करना होता है। फिर मन को इन्द्रियों मे लीन किया, इन्द्रियों को उनके कारण रूप शब्दादि तन्मात्राओं में लीन कर देते हैं, तन्मात्राओं को अहङ्कार के द्वारा ऊर्ध्वगति करके

तन्मात्राओं के अहङ्कार सहित महत्तत्व में ले जाकर लीन करना होता है।

विदुरजी ने पूछा—"महाराज ! महत्तत्व का कार्य क्या है ?"

इस पर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी ! मूल प्रकृति का पहिला विकार महत्तत्व ही है। सम्पूर्ण गुणों की अभिव्यक्ति महत्तत्व के ही द्वारा होती है। उस महत्तत्व को मायोपधिक जीव में लीन करते हैं। फिर ज्ञान वैराग्य के प्रभाव से स्वरूप में स्थित होकर अन्तकरण की उपाधि को त्याग देने से जीवन का जीवत्व छूट जाता है। इस प्रकार महाराज पृथु ने स्वेच्छा से अपने शरीर को त्याग दिया।"

आसन मारकर बैठे-बैठे ही उन्होंने शरीर का त्याग किया था। महारानी अर्चि को तो कुछ पता ही नहीं था, कि महाराज आज शरीर त्याग करेंगे। उन्होंने तो समझा महाराज ध्यान में मग्न हैं। जब उठने के समय पर भी वे न उठे, तब तो महारानी को सन्देह हुआ। वे शनैः शनैः महाराज के समीप गईं। उन्होंने महाराज के चरणों को देखा उनमें तनिक भी गर्मी नहीं थी। शरीर को देखा वह भी चेतना शून्य था। नाड़ी चल नहीं रही थी। महारानी समझ गईं कि मेरे प्राणनाथ ने प्राणों का परित्याग कर दिया है।

यहाँ अरण्य में और तो कोई था नहीं अकेली, ही बैठी हुई घड़ी देर तक विलाप करती रहीं। फिर अपने आप ही धैर्य धारण किया। पर्वत के शिखर पर महाराज के मृतक शरीर को ले गईं। इधर-उधर से उन्होंने सूखी सूखी बहुत सी लकड़ियाँ एकत्रित कीं। विदुरजी ! त्याग को कैसी महिमा है। जिन महारानी की सेवा में पहिले हजारों दासियाँ रहती थीं आज वे ही अरण्य में अकेली लकड़ियाँ बीनती डोल रही हैं। चिता चुनकर उस पर उन्होंने अपने मृतक पति के शरीर को रखा। फिर नदी में जाकर

सती साध्वी अर्चि देवी ने विधिवत् स्नान किया पति को विधि के सहित अन्तिम जलाञ्जलि दी। पतिव्रता ने सती होने की शास्त्रीय विधि से शृङ्गार आदि किया। आकाश स्थित समस्त देवताओं को वन के देवी देवों को श्रद्धा सहित प्रणाम किया। चिता की तीन परिक्रमा की और वे अपने पति के सग चिता में बैठकर सती हो गईं। पति के साथ ही उनका शरीर भी जल गया।

देवाङ्गनाओं ने जब देखा कि वीरवर महाराज पृथु की प्यारी पत्नी अपने पति का अनुगमन कर रही है, तब तो वे उनके पातिव्रत की भूरि भूरि प्रशसा करने लगीं। देवताओं ने उनके ऊपर पुष्पों की वृष्टि की। वीणा आदि वाद्य बजने लगे। सुरललनायें कहने लगीं। देखो, ये लक्ष्मी के समान स्वामी की सेवा करके स्वर्गादि पुण्य लोकों को भी लाँघकर परमपद को प्राप्त हो रही हैं। मोक्ष के साधन भूत इस नर देह का यही तो एकमात्र फल है, कि जिस किसी प्रकार भी हो, भगवच्चरणों में अनुराग हो। ससार का आवागमन छूट जाय, इसके विपरीत जो विषयासक्त होकर बार-बार जन्मते मरते हैं अब उनके लिये हम क्या कहैं, वे तो निश्चय ही आत्मघाती हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! जो गति महाराज पृथु को प्राप्त हुई, वही गति उनकी प्राणप्रिया पत्नी को प्राप्त हुई, इस प्रकार मैंने आपको यह परम धन्य, स्वस्त्ययन स्वर्ग्य और कलि-काल के समस्त मलों को तथा अमङ्गल को निवारण करने वाला महाराज पृथु का पुण्य चरित्र अत्यन्त ही सक्षेप में सुनाया। यह चरित्र सभी वर्ण, सभी आश्रम, सभी श्रेणी के पुरुषों को सुख का दाता तथा भय का त्राता है। जो इसे श्रद्धा से सुनेंगे वे इस ससार सागर को बात की बात में पार कर जायँगे। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

छप्पय

अर्चि गई पति निकट देह निष्प्राण निहारी।
बिलखी पति शव निरखि दुखारी भई बिचारी॥
ईंधन चुनि चुनि चिता सती ने स्वयम् बनाई।
विधिवत् कीन्हें कृत्य देह पति सङ्ग जराई॥
पृथु पत्नी सँग परमपद, विष्णु भक्ति ई तें लह्यो।
यों समासतें पृथु चरित, विदुर! यथामति हौं कह्यो॥

# प्रचेता कौन थे ?

[ २८२ ]

प्राचीनबर्हिषः पुत्राः शतद्रुत्यां दशाभवन् ।
तुल्यनामव्रताः सर्वे धर्मस्नाताः प्रचेतसः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० २४ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

*बोले मुनि मैत्रेय प्रचेता जनमें जस दश ।*
*कहूँ सुनो, पृथु तनय भये विजिताश्व पुण्य यश ॥*
*हविर्धान सुत भये बर्हिषद् तिनके आत्मज ।*
*शत द्रुति सँग करि ब्याह, धरी आज्ञा सिरपदज ॥*
*शील, रूप, गुण, वय, विनत, एक सरिस सबके भये ।*
*तातैं सब ई प्रचेता, एक नाम के है गये ॥*

कथा प्रसग में विस्तार भले ही हो जाय किन्तु मूल धारा अविच्छिन्न बनी रहे जैसे वृक्ष की मूल एक ही है। उसमें से शाखा प्रशाखें फूटती हैं, किन्तु उन सबको बल तो मूल से ही मिलता है। मूल के छिन्न हो जाने पर न तो हरे पत्ते रहते हैं न शाखायें ही बढ़ती हैं। जितनी शाखायें हैं, उन सबका आधार

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—' विदुरजी ! महाराज प्राचीनबर्हि के शत द्रुति में दश पुत्र हुए। वे सबके सब धर्मात्मा एक से गुण वाले थे, उन दशों का एक-सा ही नाम हुआ। दशों प्रचेता के नाम स विख्यात हुए।"

तो एक ही है, अतः सर्वप्रथम कर्तव्य है, कि मूल वस्तु की रक्षा की जाय।

विदुरजी ने पूछा—"गुरुदेव जब आपने पुण्यश्लोक ध्रुवजी का चरित्र सुनाया था, तो उसी प्रसग में यह बात कही थी, कि ध्रुवजी के यश का गायन प्रचेताओं की सभा में नारदजी ने किया था। उस समय मैंने प्रश्न किया था, ये प्रचेता कौन हैं? आपने बताया था, कि प्रचेता ध्रुवजी के वश में हुए, उसी वश को कहते कहते प्रसग वश महाराज पृथु का पावन चरित्र आपने सुना दिया। मेरा प्रश्न ज्यों का त्यों ही बना रहा। अब कृपा करके यह बतावें कि प्रचेता कौन थे।

इस पर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! ऊपर की सीढी से उतरना हो, तो क्रमशः एक के पश्चात् दूसरी और दूसरी के पश्चात् तीसरी इसी प्रकार उतरा जायगा। यदि क्रमशः न उतरे, धडाम से शीघ्रता से नीचे कूद पड़े तो हाथ पैर टूटने का डर है। मैंने आपको बताया था, महाराज ध्रुव के पुत्र वत्सर हुए, उनके पुष्पार्ण। पुष्पार्ण के व्युष्ट हुए। व्युष्ट के सर्वतेजस बडे पराक्रमी पुत्र हुए। सर्वतेजस के ही त्वक् मनु हुए उनके पश्चात् उनके १२ पुत्रों में से उल्मुक राजा बने। उल्मुक के ६ पुत्रों में से सबसे बड़े अङ्ग हुए। अङ्ग के ही क्रूरकर्मा वेन हुए। वेन के मृतक शरीर को मथने पर पृथ्वी के पिता परम पराक्रमी भगवान् के अशावतार पृथु हुए। महाराज पृथु के ५ पुत्रों में से सबसे बड़े विजिताश्व या अन्तर्धान हुए। उनके हविर्धान हुए हविर्धान के बर्हिषद् हुए जिनका नाम प्राचीनबर्हिष भी था। उन्हीं प्राचीनबर्हिष के दश प्रचेता हुए।'

विदुरजी ने कहा—"महाराज! यह तो आप बहुत शीघ्रता कर गये।"

इस पर मैत्रेय मुनि बोले—"अरे, भाई! धीरे धीरे कहते

हैं, तब भी तुम कहते हो, कि हमारे मूल प्रश्न का उत्तर नहीं दिया और शीघ्रता से कहते हैं, तो कहते हो शीघ्रता कर गये । अच्छी बात है सुनो । हम प्रचेताओं के जन्म की कथा कहते हैं ।"

विदुरजी बोले—"महाराज ! जो पुण्य श्लोक हों, जिनके चरित्र पावन हों, उनका ही विस्तार करें ।"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि बोले—"अच्छा सुनिये । महाराज पृथु अपने बड़े पुत्र विजिताश्व को राजगद्दी देकर वन मे चले गये । महाराज विजिताश्व के ४ और भी छोटे भाई थे । उन्होंने सोचा—' हम अकेले राजा वन जायँ और हमारे भाई राजा न बनें यह बात ठीक नहीं । अतः उन्होंने भ्रातृवत्सलता के कारण चारों दिशाओं का राज्य अपने चारों भाइयों को दिया । हर्यक्ष को पूर्व दिशा का राजा बना दिया । उनसे कह दिया—"भैया यहाँ से पूर्व दिशा में जितने देश हैं सब पर तुम्हारा अधिकार है ।" उससे छोटा जो धूम्रकेश था, उसे दक्षिण दिशा का राजा बनाया तीसरे वृक नामक भाई को पश्चिम दिशा का अधिपत्य प्रदान किया और सबसे छोटे द्रविण को उत्तर दिशा का शासन सौंपा । इस प्रकार चारो दिशाओं की बागडोर अपने चारों भाइयों को देकर वे नाम मात्र के सम्राट बने रहे । महाराज विजिताश्व का एक नाम अन्तर्धान भी था ।"

इस पर विदुरजी ने पूछा—"प्रभो ! महाराज पृथु के ज्येष्ठ कुमार का विजिताश्व नाम तो हयमेध के अश्व को इन्द्र से जीतने के कारण पड़ा । यह अन्तर्धान नाम किस कारण से पड़ा ?"

इसका उत्तर देते हुए मुनि मैत्रेय बोले—"विदुरजी ! जब कुमार विजिताश्व ने इन्द्र से बलपूर्वक अश्व छीन लिया, तब इन्द्र उनके बल वीर्य से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुए और उनसे कहा—"राजन् ! आपके पराक्रम से मैं अत्यन्त ही सन्तुष्ट हूँ, आप मुझसे कुछ वरदान माँग लें ।"

कुमार ने कहा—"देवराज मेरे यहाँ धन सम्पत्ति की तो कुछ कमी है नहीं। अस्त्र-शस्त्रों का भी मुझे पूर्ण ज्ञान है। सभी दिव्यास्त्रों को जानता हूँ, यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मुझे अन्तर्धान होने की विद्या सिखा दीजिये।"

कुमार की ऐसी प्रार्थना करने पर इन्द्र ने प्रसन्न होकर उन्हें अन्तर्धान होने की विद्या सिखा दी ? इसीलिये उनका नाम अन्तर्धान हुआ। महाराज विजिताश्व या अन्तर्धान के शिखण्डनी के गर्भ से तीन लोक प्रसिद्ध पुत्र उत्पन्न हुए। उनके नाम पावक, पवमान और शुचि थे।"

इस पर विदुरजी ने पूछा —"भगवन् ! ये नाम तो अग्नि के हैं आह्वनीय, गार्हपत्य और प्राजापत्य इन अग्नियों के ही ये नाम हैं। इनका कुछ अग्नियों से सम्बन्ध है क्या ?"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि बोले—"हाँ विदुरजी ! तीनों अग्नियों ने ही भगवान् वसिष्ठ के शाप से महाराज विजिताश्व की पत्नी शिखण्डिनी के गर्भ से जन्म लिया था। अन्त में योग मार्ग के द्वारा वे अग्नि रूप हो गये।"

हाँ, तो ये पावक, पवमान और शुचि तो योगमार्ग के अनुगामी बन गये। तब महाराज से अपनी दूसरी पत्नी नभस्वती के गर्भ से हविर्धानि नामक पुत्र उत्पन्न किया। महाराज विजिताश्व के पश्चात् वे ही भू मण्डल के सम्राट् बनाये गये। वे बड़े दयालु तथा धर्मात्मा थे। किसी का कष्ट वे देख नहीं सकते थे। एक दिन उन्होंने सोचा हमारी यह कैसे गर्हित वृत्ति है। प्रजा के लोग परिश्रम करते हैं हम उनसे व्यर्थ में ही छठा हिस्सा ले लेते हैं। किसी से स्वभाव वश कुछ भूल हो जाती है तो उसके ऊपर अपराध शुल्क लगा देते हैं, इस प्रकार हम अपने कोष को बढ़ाते हैं। यह निन्दनीय कार्य है अकारण प्रजा को कष्ट पहुँचाना है। फिर भी शास्त्रकारों ने राजा का यह धर्म बताया है, कि वह प्रजा

से शुल्क ले, उन्हें दण्ड दे। यदि हम इसे पूछते हैं तो धर्म से च्युत होते हैं यदि नहीं छोड़ते तो प्रजा को कष्ट होता है अतः कोई ऐसा उपाय निकाला जाय। जिससे हम धर्म से भी च्युत न हों प्रजा को भी कष्ट न हो। यह सोचकर उन्होंने एक दीर्घ-कालीन यज्ञ की दीक्षा ले ली। क्योंकि दीक्षित पुरुष तो यज्ञ सम्बन्धी कार्य छोड़कर दूसरा कार्य कर ही नहीं सकता। इस प्रकार वे दण्ड शुल्कादि कठोर कार्यों से एक व्याज से निवृत्त हो गये। वे यज्ञों के द्वारा पुराण पुरुष प्रभु का त्रिविध सामग्रियों द्वारा यजन करने लगे। उनके समस्त यज्ञ निष्काम थे, उनमें किसी प्रकार के फल की इच्छा नहीं थी। अतः वे उन यज्ञों को करते हुए आत्म साक्षात्कार करने लगे। इस प्रकार आत्मदर्शी होकर उन्होंने सुदृढ़ समाधि के द्वारा भगवान् वैकुण्ठनाथ के परम धाम को प्राप्त कर लिया।

उन महाराज हविर्धान की हविर्धानी नामक पत्नी थी। जिसके गर्भ से बर्हिषद, गय, शुक्ल, कृष्ण, सत्य और जितव्रत ये ६ पुत्र उत्पन्न हुए। उन सब में बर्हिषद ही श्रेष्ठ थे अतः वे ही, राजा हुए। महाराज बर्हिषद बड़े कर्मकाण्डी थे साथ ही योग में भी पारंगत थे, उन्हें यज्ञ करने का व्यसन ही हो गया था, यहाँ तक कि उन्होंने पूर्व दिशा की कुशाओं का अग्रभाग करके उन यज्ञ सम्बन्धी कुशाओं से सम्पूर्ण पृथ्वी को ढक दिया। आज यहाँ यज्ञ किया तो दूसरा उससे आगे किया, तीसरा उससे आगे इस प्रकार एक के पश्चात् एक स्थान से दूसरे स्थान में यज्ञ करते-करते उन्होंने सम्पूर्ण पृथ्वी को यज्ञ भूमि ही बना डाला। इसीलिये उनका नाम प्राचीनबर्हि पड़ गया। समुद्र की एक पुत्री थी, जिसका नाम शतद्रुति था, उसके विवाह के लिये समुद्र ने जाकर ब्रह्माजी से प्रार्थना की। ब्रह्माजी ने राजा प्राचीनबर्हि को आज्ञा दी, कि तुम इस अत्यन्त सुन्दरी कन्या के साथ पाणिग्रहण कर

लो। इसे अपनी धर्मपत्नी बना लो। यह शतद्रुति इतनी सुन्दरी थी कि उसके सौन्दर्य से भाँवर पड़ते समय साक्षात् अग्निदेव भी मोहित हो गये थे। जब वह अपने पैरों के पायजेब और नूपुरों की मजुल झंकार करती हुई राजहंसिनी की भाँति मद से मदमाती होकर यौवन की उमंग में इठलाती हुई चलती थी तो उसकी चाल को ही देखकर मनुष्यों की तो बात ही क्या ऋषि, मुनि, सिद्ध गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, सुर, असुर, नाग तथा अन्य उपदेव भी अपने आपको भूल जाते थे।

सूतजी कहते हैं—"विदुरजी! उसी शतद्रुति के गर्भ से महाराज प्राचीनबर्हि के दश प्रचेता जो एक रूप, एक शील एक से गुण वाले होने के कारण दशों के दश प्रचेता कहलाये।"

छप्पय

*सब सुन्दर सब सुघर सरिस सदगुनहिँ सबनि के।*
*भये प्रचेता नाम एक से सबके तिनके॥*
*पिता कहे तब एक संग सब ई मिलि आवें।*
*जाओ जावें संग संग सब ई मिलि खावें॥*
*एक प्राण दश देह में, संचारन सँग सँग करत।*
*मानों मन दश रूप धरि, करत काज जग महँ फिरत॥*

---

# प्रचेताओं पर महादेवजी की कृपा

[ २८३ ]

प्रचेतसः पितुर्वाक्यं शिरसाऽऽदाय साधवः ।
दिशं प्रतीचीं प्रययुस्तपस्यादृतचेतसः ॥
ससहेमनिकायाभं शितिकण्ठं त्रिलोचनम् ।
प्रसादसुमुखं वीक्ष्य प्रणेमुर्जातकौतुकाः ॥*
(श्रीभा० ४ स्क० २४ अ० १९-२५ श्लोक)

छप्पय

*पिता कह्यो हे पुत्र ! तपस्या हित सब जाओ ।*
*तप करि सञ्चय शक्ति करो फिरि प्रजा बढ़ाओ ॥*
*आयसु पितु सिर धारि चले सब मिलि जुलि भाई ।*
*मारग महँ मनहरन पर्यो संगीत सुनाई ॥*
*सुनि विस्मित सब ई भये, इत उत सब निरखन लगे ।*
*शिव सम्मुख गए सहित लखि, त्रिविध तबनिके भय भगे ॥*

शुभ कार्य के लिये जो कमर कस के निकल पड़ते हैं, उनका सर्वत्र कल्याण ही कल्याण है । मनुष्य अपनी कमजोरी के कारण

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! पिता के वाक्य से तपस्या में चित लगाकर साधु स्वभाव वाले दशों प्रचेता पश्चिम दिशा की ओर गये । मार्ग में तपाये हुए सुवर्ण राशि के समान नीलकण्ठ त्रिलोचन भगवान् शम्भु को अपने ऊपर अनुग्रह करने को उद्यत देखकर प्रचेताओं को बड़ा कुतूहल हुआ और शिवजी को श्रद्धा सहित प्रणाम किया ।"

ही भयभीत होता है। जहाँ वह भगवान् के सहारे मङ्गलानुष्ठान के निमित्त चल पड़ता है वहाँ कल्याण के निधान श्रीशिव उनके मार्ग को मंगलमय बना देते हैं। श्री शिवजी तो जगतगुरु ही ठहरे। जो तपस्या के संकल्प से चलता है उसे वे मन्त्र दीक्षा देकर कल्याण का मार्ग दिखाते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! महाराज प्राचीनबर्हि के दशों पुत्र बड़े ही धर्मात्मा तथा पितृभक्त थे। सबका एक-सा ही शील स्वभाव था। एक-सी ही उठन, बैठन, बोलन, चलन और चितवन थी। पिता जब कहते—"प्रचेताओ आओ" तो दश के दशों साथ आते। दशों साथ खाते पीते और नहाते धोते। पिता ने जब इन सबको योग्य देखा तो वे इनसे बोले—"बेटाओ! अब तुम सब योग्य हुए। मैं चाहता हूँ, तुम सब मिलकर प्रजा की वृद्धि करो। अपने ही समान योग्य पुत्र उत्पन्न करो। सृष्टि का विस्तार करो। यह सब तभी होगा, जब तुम सब मिलकर अखिल भुवनपति भगवान् विष्णु का ध्यान करोगे। विषय सुखों से मुँह मोड़कर तपस्या में चित्त लगाओगे। तुम सब समर्थ हो, धर्मात्मा हो, अतः सब मिलकर तपस्या करो तपस्या से श्रीहरि को प्रसन्न करो। तुम्हारा कल्याण हो, तुम सब जाकर समुद्र के किनारे शुद्ध चित्त से भगवत आराधना करते हुए इन्द्रियों का सयम करो।"

अपने पिता की ऐसी आज्ञा सुनकर प्रचेताओं ने कहा—"प्रभो! आप हमारे पिता हैं, पूज्य हैं। हमें आप जो भी आज्ञा देंगे, उसे हम श्रद्धा सहित शिरोधार्य करेंगे। अब हम सब तपस्या करने जाते हैं।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके दशों भाई तपस्या के लिये चल दिये। रास्ते में

उन्हें शिवजी के दर्शन हुए, जिन्होंने इन सबको रुद्रगीत का उपदेश दिया।"

इतना सुनते ही बड़े विस्मय के साथ विदुरजी पूछने लगे—"प्रभो! यह तो आप बड़ी आश्चर्य की-सी बातें सुना रहे हैं। प्रचेताओं का मार्ग में शिवजी के साथ कैसे समागम हो गया। इस पार्थिव शरीर में शिवजी के दर्शन तो निरन्तर ध्यान, योग तथा तपस्या के द्वारा शुद्ध अन्तःकरण वाले मुनियों को चिरकाल में होता है, वह भी जब शिवजी की कृपा हो तब। फिर आप कहते हैं—शिवजी ने उन्हें सारयुक्त सरल सुगम साधन का उपदेश दिया। सो मैं इस प्रसग को विस्तार के सहित सुनना चाहता हूँ। भगवान् शकर आत्माराम हैं, उन्हें किसी की भलाई बुराई से प्रयोजन ही क्या? फिर भी वे लोक रक्षा के निमित्त घोर शक्ति के साथ सदा सर्वत्र विचरण करते रहते हैं।"

विदुरजी के ऐसे प्रश्न को सुनकर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! भगवान् भूतनाथ का एक नाम शिव भी है, शिव कहते हैं कल्याण करने वाले को। जो साधक कल्याण मार्ग की ओर अग्रसर होता है, उसकी मार्ग में ही शिवजी स्वय रक्षा करते हैं। शिवजी सन्ध्या के समय अपने गणों को साथ लिये हुए सर्वत्र घूमते हैं और यह देखते फिरते हैं, कि कौन क्या कर रहा है। ये प्रचेता अपने पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके समुद्र के समीप तपस्या करने जा रहे थे, कि रास्ते मे चलते चलते समुद्र के समीप सभी ने सुन्दर स्वच्छ सलिल वाला एक सरोवर देखा। वह दूसरे समुद्र के समान, आकाश के समान विस्तृत था। उसका जल निर्मल दर्पण के समान साधु पुरुषों के हृदय के समान स्वच्छ और मल रहित था। उसमें मगर, मत्स्य, घड़ियाल, सर्प आदि बहुत से जल जन्तु उसी प्रकार सुखपूर्वक रहते थे, जिस प्रकार भाग्यशाली धर्मात्मा पुरुष के आश्रय में बहुत से पुरुष आनन्द के

साथ रहते हैं। उस सरोवर में भाँति-भाँति के कमल खिल रहे थे। बहुत से नील कमल थे। वे ऐसे लगते थे मानों आकाश टुकड़े टुकड़े होकर सरोवर के ऊपर बिखरा हुआ है। खिले हुए लाल कमल ऐसे दीखते थे मानों कमलादेवी सहस्रबाहु बनाकर अपने करों को ऊपर उठाये हुए हों। कुछ ऐसे उत्पल नामक कमल थे, जो रात्रि में उसी प्रकार खिलते थे जैसे सूर्यास्त होते ही अभिसारिका का मुख कमल खिल जाता है। कुछ अम्भोज नामक कमल थे, वे दिन में ही खिलते थे। कुछ कल्हार नामक कमल थे जो सायंकाल के ही समय खिलते थे, इन सबके अतिरिक्त इन्दीवर आदि और भी अनेकों प्रकार के कमल उस सरोवर की शोभा बढ़ा रहे थे। हंस, सारस, चक्रवाक, जलकुक्कुट, कारण्डव, आदि जलजन्तु कमलों के ऊपर बैठे चहक रहे थे। जिस प्रकार कामिनी के कमनीय कण्ठ की मधुर प्रेमयुक्त वाणी सुनकर कामी पुरुषों के हर्ष से रोमाञ्च हो जाते हैं, उसी प्रकार मधुपान करके मत्त हुए मधुकरों के मधुर गुञ्जार से सरोवर से घिरे हुए वृत्तों के लता रूप ऊँचे उठ रहे थे। उन वृक्षों की लतायें उसी प्रकार आलिंगन किये हुए थीं, जिस प्रकार प्रियतम को प्रियतमा परिवेष्टित कर लेती है। वायुदेव कभी तो कमलों की पंखुड़ियों को गुदगुदा आते कभी उनके कोमल मर्म स्थानों मे गुलगुली कर देते, जिससे वे सिहर उठते। कभी वृक्षों को कसकर पकड़ कर झकझोर देते। जिससे उनकी चोटी में लगे हुए पुष्प बिखर जाते। कभी उन्हें पकड़ने दौड़ते तो अपने शाखा रूपी हाथों को हिलाते हुए वे मना करते हुए से दिखाई देते। इस प्रकार पवनदेव उस सरोवर के वृक्षों और कमलों के साथ भाँति-भाँति की कमनीय काम क्रीड़ायें कर रहे थे।

उसी ओर जाते हुए उन प्रचेताओं को उस सरोवर के समीप ही सुन्दर ताल स्वर युक्त सरस संगीत सुनाई दिया। ताल के

सहित मृदंग पणव आदि बाजे बज रहे थे। उनकी लय में लय मिला हुआ अनेक दिव्य राग रागिनियों से युक्त अत्यन्त मनोहर गायन सुनाई दे रहा था। चित्त को स्वतः ही अपनी ओर आकर्षित करने वाले ऐसे दिव्य संगीत को सुनकर सभी सरल सुकुमार राजकुमार अत्यन्त ही विस्मृत हुए। वे आँखों को फाड़-फाड़ कर चारों ओर निहारने लगे कि यह संगीत कहाँ से सुनाई दे रहा है, किन्तु दूर तक दृष्टि दौड़ाने पर भी उन्हें कोई गाने बजाने वाला दिखाई नहीं देता था। वे आश्चर्य युक्त होकर संगीत रूपी सुधा का पान करते हुए स्तब्ध हुए खड़े ही थे, कि उन्हें सहसा जल स बाहर निकलते हुए नीलकण्ठ त्रिनयन भगवान् भूतनाथ दिखाई दिये। उनका वर्ण तपाये हुए सुवर्ण के समान था। अपनी कमनीय कान्ति से दशों दिशाओं को कान्ति युक्त बना रहे थे। वे भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के लिये व्यग्र, से दिखाई देते थे। यक्ष, गन्धर्व आदि उनके गुणों का गान करते हुए उनका अनुगमन कर रहे थे। ऐसे शिवजी को प्रसन्नता पूर्वक अपनी ओर आते देखकर राजकुमार बड़े विस्मित से हुए। कुतूहलवश उन्होंने सदाशिव के पादपद्मों मे प्रणाम किया, श्रद्धा-सहित उनकी चरण वन्दना की।

शिवजी ने जब देखा महाराज प्राचीनबर्हि के ये पुत्र धर्मज्ञ शील सम्पन्न तथा सदाचारी हैं और हमारे दर्शनों से ये अत्यन्त ही आह्लादित हो रहे हैं, तब तो शिवजी उन्हें और भी प्रसन्न करने के निमित्त मेघ गम्भीर-वाणी में बोले।

शिवजी ने कहा—"पुत्रो! तुम्हारा कल्याण हो। मुझे सब पता है, तुम महाराज प्राचीनबर्हि के पुत्र हो। तुम सबका नाम प्रचेता है। तुम्हारा जो संकल्प है, तुम जो करना चाहते हो उसका मुझे पता है। तुम्हारे मनोगत भाव को जान कर ही

तुम्हारे ऊपर अनुग्रह करने के लिये मैं तुम्हारे सम्मुख प्रकट हुआ हूँ।"

हाथ जोड़े हुए प्रचेताओं ने कहा— 'प्रभो! हमने तो ऐसा कोई सुकृत किया नहीं है, जिससे हम आपके दर्शनों के अधिकारी हो सकते थे। आपने अपनी अहैतुकी कृपा से ही हमें अपने देव दुर्लभ दर्शन दिये।"

इस पर शिवजी ने कहा—"बच्चो! मेरे दर्शन किसी पुण्य कर्म से हो ही जायँ सो बात नहीं, किन्तु जो पुरुष सूक्ष्म और त्रिगुणमय प्रकृति तथा जीव नामक पुरुष से अतीत भगवान् वासुदेव की शरण में जाता है, उनकी उपासना करने का विचार करता है, ऐसा पुरुष मुझे अत्यन्त प्रिय है। भगवान् में भक्ति होना, उनकी उपासना करने का विचार करता है। ऐसा पुरुष मुझे अत्यन्त प्रिय है। भगवान् में भक्ति होना, उनकी उपासना करने का विचार करना यह बड़े भाग्यों से होता है। अब मैं तुम्हें रहस्य से रहस्य सारयुक्त साधन का उपदेश दूँगा।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार शिवजी की स्नेह भरी कृपायुक्त वाणी सुनकर प्रचेतागण परम प्रसन्न हुए और अपने को कृतार्थ हुआ समझने लगे। शिवजी की अपने ऊपर ऐसी कृपा देखकर वे बड़े ही प्रसन्न हुए और अपने जीवन को सफल समझने लगे।"

छप्पय—देखे सम्मुख शम्भु दौरि पकरे सब हर पग।
अति आनन्दित भये लख्यौ निष्कंटक निज मग॥
विनय सहित सब कहैं कृपाकर। भये दरस करि।
दुष्कृत सगरे नसे नाथ निरखे नयनानि भरि॥
नीलकण्ठ शङ्कर कहैं, तुम सब सुकृत स्वरूप हो।
राजकुमर आपि रूप हो, भक्ति भवन के भूप हो॥

# रुद्रगीत का शिवजी से उपदेश पाकर प्रचेताओं का तप

## [ २८४ ]

रुद्रगीतं भगवतः स्तोत्रं सर्वे प्रचेतसः ।
जपन्तस्ते तपस्तेपुर्वर्षाणामयुतं जले ॥*

(श्री भा० ४ स्क० २४ अ० २ श्लो०)

छप्पय

*रुद्रगीत हौं कहूँ जपो निश्चल है ताकूँ ।*
*होहि सिद्धि अति शीघ्र, जपोगे जो तुम जाकूँ ॥*
*प्रजा तिननि कूँ पूर्वकालमहँ जिहि विधि दीन्हों ।*
*पाइ तिननि अति हरषि सृजन परजा को कीन्हों ॥*
*यों कहि योगादेश हर, रुद्रगीत सबकूँ दयो ।*
*पाइ शम्भु उपदेश अति, मन प्रसन्न सबको भयो ॥*

संसार में सौ रुपये मिल जायँ तो क्या । लाख मिल जाय तो क्या । एक पत्नी हो तो क्या, लाख पत्नी हो तो क्या, तृप्ति किसी की नहीं होती । जिसके पास जितनी ही अधिक विषय भोग की सामग्रियाँ हैं, उसे उतनी ही अधिक तृष्णा है, उतनी

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! वे सब प्रचेतागण भगवान् रुद्र के बताये हुए रुद्रगीत नामक स्तोत्र का जप करते हुए, दस हजार वर्ष तक जल में खड़े होकर तपस्या करते रहे ।"

ही अधिक अशान्ति है। रूखे सूखे से पेट भर लीजिये, छप्पन व्यजन खा लीजिये। परिणाम दोनों का एक है, गले के नीचे जहाँ उतरा मल हो गया। क्षण भर जिह्वा का स्वाद है, सो स्वाद से तृप्ति हो जाती हो, सो भी नहीं। ज्यों ज्यों खाते हैं, त्यों त्यों लालसा बढती जाती है। अतः भाग्यवान वह नहीं जिसके पास चाँदी के १० ठीकरे अधिक हो। भाग्यशाली तो वह है, जो इन नश्वर वस्तुओं को छोडकर अविनाशी, शाश्वत, श्रीहरि के चरणारविन्दों मे प्रेम करें, अनुराग रखे। सहस्रों वर्ष जो तपस्या योग समाधि आदि साधन करते हैं, उन लोगों की श्रीकृष्ण चरणारविन्दों मे भक्ति होती है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब प्रचेताओं को शिवजी के दर्शन हो गये, तब शिवजी से उनसे कहा—"देखो बच्चो! जो लोग भगवान् वासुदेव की शरण में जाते हैं, वे मुझे अत्यन्त ही प्रिय हैं। क्योंकि समानशील वाले परस्पर मे मिलकर बड़े प्रसन्न होते हैं। भँगेड़ी को भँगेड़ी मिल जाय, गँजेड़ी को गँजेडी मिल जाय तो दोनों मिलकर बड़े आनन्द से नशापत्ती करते हैं। मुझे भी भगवान् श्रीहरि अत्यन्त प्रिय हैं, अतः हरि भक्तों को देखकर मुझे बडा आह्लाद होता है।"

प्रचेताओं ने पूछा—"प्रभो! भगवान् के पद की प्राप्ति कैसे होती है।"

इस पर शिवजी बोले—"राजकुमारो! भगवान् कब और किस साधन द्वारा प्राप्त होते हैं, इसका कोई नियम नहीं। जब उनकी कृपा हो जाय,वे साधन साध्य नहीं हैं, कृपा साध्य हैं। फिर भी एक साधारण-सा क्रम है। जो मनुष्य १०० जन्म तक अपने वर्णाश्रम धर्म का विधिवत् अव्यम भाव से पालन करता, वह ब्रह्मा के पद को प्राप्त होता है। तदनन्तर वह चिर काल तक उपासना करता रहता है। तो मेरे अर्थात् रुद्र के पद को प्राप्त होता है, इसके

अनन्तर वह भगवत् भक्त भगवान् विष्णु के अनिर्वचनीय पद को प्राप्त होता है। मैं भी तो जब यह रुद्रपने का अधिकार समाप्त हो जाता है, तो उन्हीं भगवान् वासुदेव के पद को प्राप्त होता हूँ। अन्य देवता भी योग्यतानुसार उनके पद को प्राप्त हुआ करते हैं। वह उन विष्णु का परमपद है। ज्ञानीपुरुष ही उसको सदा देखते हैं। भगवान् और भगवान् के भक्तों में तो अन्तर नहीं। जैसे मुझे भगवान् वासुदेव प्रिय हैं, उसी प्रकार भगवान् के भक्त प्रिय हैं, तुम भी मुझे उतने ही प्यारे लगते हो। संसार में मेरे लिये भगवद्भक्तों से बढ़कर कोई प्रिय नहीं। इसलिये मैं तुम लोगों को एक अत्यन्त ही प्रिय वस्तु देता हूँ।"

प्रचेताओं ने कहा—"प्रभो! यह हमारा बड़ा सौभाग्य है कि आप ब्रह्मादिक देवों से भी वन्दित देवाधिदेव हमारे ऊपर प्रसन्न हैं। हम यह जानना चाहते हैं कि आप हमें कृपा करके कौन-सी वस्तु देंगे। आप जो भी प्रदान करेंगे हमारे कल्याण के ही निमित्त करेंगे। अतः हमें उसका उपयोग करना भी बता दें।"

इस पर श्रीरुद्र भगवान् बोले—"देखो, बच्चो! भगवान् वासुदेव को प्रसन्न करने वाला मेरा एक स्तोत्र है। वह मुझे बहुत प्रिय है, इसीलिये उस स्तोत्र का नाम रुद्रगीत है। उसे "योगादेश" भी कहते हैं। अपने प्रेमी को अत्यन्त प्रिय वस्तु ही दी जाती है। इसीलिये मैं तुम्हें रुद्रगीत का उपदेश दूँगा। यह अत्यन्त मङ्गलमय परम पवित्र तथा कल्याणकारी स्तोत्र है। एकान्त में बैठकर इसका स्पष्ट उच्चारण करते हुए तुम सब बड़ी सावधानी से जप करना, अर्थात् प्रेमपूर्वक पाठ करना। तुम सबका कल्याण होगा।"

शिवजी के ऐसे प्रेम भरे वचन सुनकर सभी प्रचेता परम

प्रसन्न हुए और हाथ जोड़े हुए बड़ी श्रद्धा के सहित ... की दीक्षा लेने के निमित्त विनय के सहित शिवजी के समीप बैठ गये। शिवजी उन्हें स्नेह भरित हृदय से श्रीरुद्रगीत का ... देने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! शिवजी ने परम रहस्य रूप जिस रुद्रगीत का प्रचेताओं को उपदेश दिया, उसका वर्णन मैं फिर कभी प्रसगानुसार करूँगा। यहाँ तो आप इतना ही समझ लें कि उस स्तोत्र मे पहिले तो वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन भगवान् के चतुर्व्यूह के लिए प्रणाम है, फिर विश्व रूप भगवान् की तत्तद् शक्ति को नमस्कार है। फिर भगवान् के सगुण साकार रूप का वर्णन है। फिर भगवान् की महिमा की स्तुति है, इस प्रकार ३५ श्लोकों मे यह स्तोत्रराज है। शिवजी इसका नित्य जप करते हैं। इसीलिये प्रसन्न होकर उन्होने इसका उपदेश प्रचेताओं को दिया और अन्त में कह दिया—

देखना, राजकुमारो! बड़ी सावधानी से, अत्यन्त विशुद्ध भाव से, स्वधर्म का आचरण करते हुए, भगवान् वासुदेव के चरणारविन्दों में चित्त लगाते हुए, इस स्तोत्र का जप करते रहना तुम्हारा कल्याण होगा।

इस पर प्रचेताओं ने पूछा—"प्रभो! आपको यह 'योगादेश' स्तोत्र कहाँ और कैसे प्राप्त हुआ ?"

तब शिवजी ने कहा—"देखो, लोक पितामह ब्रह्माजी ने १० प्रजापतियों को पहिले पहिल उत्पन्न किया और हम सब को सुनाते हुए इस स्तोत्र का उपदेश दिया। प्रजापतियों ने इस स्तोत्र के प्रभाव से ही सृष्टि वृद्धि की। यदि तुम लोग भी उन श्रीहरि का स्तवन तथा ध्यान करते हुए, अपने अन्तःकरण में स्थित उन सर्वान्तर्यामी प्रभु का पूजन करोगे, तो तुम भी सृष्टि वृद्धि में समर्थ हो सकोगे। जो भी इस स्तोत्र का पाठ करेंगे, उन्हें ...

शीघ्रातिशीघ्र श्रेय की प्राप्ति होगी। वह ज्ञान प्राप्त करके इस संसार रूपी समुद्र को सरलता से प्राप्त कर सकता है। प्रातःकाल जो इस स्तोत्र को सुनता पढता है उसके समीप सभी सिद्धियाँ स्वयं ही समुपस्थित रहती हैं। उससे समस्त कर्म बन्धन छूट जाते हैं, उसके समस्त संशय नाश हो जाते हैं, वह परम पद का अधिकारी हो जाता है।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार उपदेश देकर शिवजी तत्काल वहाँ के वहीं अन्तर्धान हो गये। प्रचेताओं को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन सबने भूमि में लोटकर उसी दिशा को प्रणाम किया, जिसमें सदाशिव शंकर अन्तर्हित हुए थे।"

प्रचेताओं का मन प्रफुल्लित हो गया, अनायास ही शिवजी के दर्शन हुए, उन्होंने कृपा की और श्री योगादेश स्तोत्र की दीक्षा दी, इससे उन्हें बड़ा आनन्द हुआ। सबने उस स्तोत्र को बड़ी सावधानी से कण्ठ कर लिया। अब तपस्या करने के निमित्त समुद्र के समीप गये। वहाँ उन्होंने पिघले हुए नील काच के सदृश समुद्र को देखा। उसका न ओर था न छोर प्रशान्त गंभीर और विस्तृत उस जलनिधि को देखकर प्रचेताओं के हृदयों में हिलोरें उठने लगीं। अब उन्होंने वहीं समुद्र के जल में खड़े होकर घोर तप करने का निश्चय किया। वे अपने पिता के भक्त थे, शिवजी की उन पर कृपा हो चुकी थी, प्रजा की वृद्धि की उनकी आन्तरिक इच्छा थी, अतः वे अव्यग्र भाव से घोर तपस्या में प्रवृत्त हुए।

पहिले उन्होंने समुद्र के सलिल में स्नान किया। स्नान करके शुद्ध होकर विधिवत् आचमन किया और फिर शिवजी के बताये हुए उस स्तोत्र का पाठ करते हुए समुद्र के जल में ही खड़े रहे।

इस पर विदुरजी ने पूछा—"महाराज, ये लोग कितने दिनों तक ऐसा घोर तप करते रहे ?"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी ! कुछ पूछिये नहीं उनका तप तो बड़ा ही दुष्कर था। इसी प्रकार रुद्रगीत का करते हुए वे १० हजार वर्ष जल में ही खड़े रहे।"

इस पर विदुरजी बोले—"भगवन् ! महाराज प्राचीनवर्हि ने तो पुत्रों को प्रजा वृद्धि के निमित्त तपस्या करने भेजा था, इतने दिनों तक न लौटने पर उन्हें चिन्ता क्यों नहीं हुई ?"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि हँसे और बोले—"विदुरजी ! [illegible] होती है अज्ञान में। ज्ञानी पुरुष को न तो कभी किसी वस्तु की चिन्ता होती है और न वह किसी भी घटना को देखकर विस्मित होता है। वह समझता है कि माया में सब कुछ सम्भव हो सकता है। इसलिये न कोई चिन्ता करने का कारण है न विस्मय का। जब तक अज्ञान है, तभी तक यह मेरा, यह तेरा, यह ऐसे क्यों हुआ, यह वैसे क्यों हो गया इन बातों को मनुष्य सोचता है।"

विदुरजी ने पूछा—"भगवन् ! महाराज प्राचीनवर्हि तो कर्मकाण्डी थे। वे तो सदा स्वर्ग की कामना से निरन्तर यज्ञयाग ही में लगे रहते थे, उन्हें ऐसा दिव्य ज्ञान कैसे और किसके द्वारा हो गया ?"

मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी ! संसार में साधु बड़े कृपालु होते हैं। वे कृपावश मुमुक्षुओं को स्वयं जाकर उपदेश देते, स्वयं उनके संशयों का छेदन करते और तत्वज्ञान का उपदेश देकर उन्हें संसार सागर से पार पहुँचा देते हैं। कृपा के सागर भगवान् नारदजी ने बड़ा सुन्दर आध्यात्मिक उपाख्यान सुनाकर महाराज प्राचीनवर्हि को आत्मतत्व का उपदेश दिया।"

यह सुनकर विदुरजी बड़ी उत्सुकता से बोले—"भगवन् ! उस अलौकिक आध्यात्मिक उपाख्यान को यदि आप अधिकारी समझते हों तो कृपा कर सुना दें।"

इस पर हँसते हुए मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी ! आपसे बढ़कर इस उपाख्यान को सुनने का अधिकारी और कौन हो सकता है। मैं उस दिव्य उपाख्यान को सुनाता हूँ। आप सावधानी के साथ समाहित चित्त से श्रवण कीजिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इतना कहकर भगवान् मैत्रेय विदुरजी को प्रसिद्ध पुरञ्जनोपाख्यान सुनाने को उद्यत हुए।"

छप्पय

*करिकें हर उपदेश भये अन्तर्हित तब ई।*
*इत उत विस्मित लखैं जगे सपने से सब ई॥*
*सबने शिव कूँ करी दण्डवत् मन ई मनमहँ।*
*रुद्रगीत कूँ जपत चले आगे सब वनमहँ॥*
*करत सहसदस वरष जप, जलमहँ सब ठाढ़े रहे।*
*जप तप रूपी अनलमहँ, कल्मष सबके सब दहे॥*

# पुरञ्जनोपाख्यान का प्रारम्भ

[ २८५ ]

प्राचीनबर्हिषं क्षत्तः कर्मस्वासक्तमानसम् ।
नारदोऽध्यात्मतत्त्वज्ञः कृपालुः प्रत्यबोधयत् ॥*
(श्रीभा० ४ स्क० २५ अ० ३ श्लोक)

छप्पय

*विदुर ! निरखि प्राचीनबर्हि कूँ फँस्यो कर्म महँ ।*
*करन ज्ञान उपदेश गये नारद भूपति जहँ ॥*
*बोले – राजन् ! काम्य कर्म करि कहा विचार्यो ।*
*क्यों न ज्ञान वैराग्य खड्गतें मोह विदार्यो ॥*
*नृप बोले–मुनि ! मूढ़ हौं, मुक्ति मार्ग जानूँ न कछु ।*
*यज्ञ, याग, बलिदान, पशु, स्वर्ग छोड़ि मानूँ न कछु ॥*

उपदेश देने की प्रणाली सबको नहीं आती, यह भी एक भगवद्दत्तकला है। भोजन का उद्देश पेट भरना है, बुभुक्षा शान्त करना है, यह सोचकर कोई कहे कि सूखे सत्तू फाँककर पेट भर लो। सूखे सतुओं से भी पेट भर सकता है, किन्तु उनसे तृप्ति नहीं होगी, खाने में आनन्द न आवेगा, स्वारस्य का प्रादुर्भाव न होगा। बड़े कष्ट से वे कण्ठ के नीचे उतरेंगे। उसी आटे में घी

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! कर्मकाण्ड मे आसक्तचित्त वाले महाराज प्राचीनबर्हि के चित्त को कर्मकांड मे आसक्त देखकर कृपालु श्रीनारदजी ने उनको आत्मतत्व का उपदेश दिया।"

मिलाकर बढ़िया मोहनभोग बन जाय, गरमागरम भगवान् का भोग लगाकर गोल-गोल ग्रास कर मुँह में रखो। बिना प्रयास से सट्ट से लोक करते हुए पेट में उत्तर जायँ। खाते-खाते ही आँखों में ज्योति आने लगे, मुरझाई हुई इन्द्रियाँ अपने आप चैतन्य हो जायँ, तुष्टि-पुष्टि और क्षुधा निवृत्ति साथ ही हो। इसी प्रकार उपदेश शुष्क न हो। सरस हो, उपाख्यान सहित हो। कथा में इतनी रसवर्धिनी हो कि मन में अपने आप बैठ जाय। जहाँ दृष्टान्त दिया नहीं कि विषय अपने आप समझ में आ जाय। ऐसा उपदेश नारदजी के अतिरिक्त दूसरा कौन दे सकता है। नारदजी उपदेश दाताओं के आचार्य हैं। नारदजी ने ऐसा ही सुन्दर सरस सरल भावपूर्ण दृष्टान्त युक्त उपदेश महाराज प्राचीनवर्हि को दिया था।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! भगवान् भूतनाथ से उपदेश पाकर प्रचेतागण तो तपस्या करने समुद्र की ओर चले गये। इधर नारदजी ने सोचा—"इन प्रचेताओं के पिता महाराज प्राचीनवर्हि काम्य कर्मों में ही आसक्त बने हुए हैं। किसी प्रकार इनका भी उद्धार होना चाहिये।" यही सोचकर उन्होंने अपनी वीणा उठाई और राम कृष्ण गुन गाते, वीणा बजाते महाराज को उपदेश देने के निमित्त चले।"

विदुरजी ! इन साधुओं का चित्त कितना कोमल होता है, ये दूसरों को दुखी देख नहीं सकते। योग्य अधिकारी पुरुष को भी जब विषयों में आसक्त देखते हैं, तो उनका नवनीत के समान हृदय द्रवित हो उठता है। वे चाहते हैं सभी इस त्रितापमय जगत् से सदा के लिये पार होकर शाश्वती शान्ति को प्राप्त कर सकें। कृपा वश उन पर नहीं रहा जाता। इसीलिये नारदजी स्वयं उपदेश करने महाराज प्राचीनवर्हि के समीप पहुँचे। नारदजी को आया हुआ देखकर महाराज अपने सिंहासन से उठकर शीघ्रता

के साथ खड़े हो गये। उन्होंने शास्त्रीय विधि से देवर्षि भगवान् नारद की पूजा की। महाराज की पूजा को स्वीकार करके मुनिवर राजा से कहने लगे—"राजन! आपने श्रेय किसे समझ रखा है। इन काम्यकर्मों के करने से कौन-सा कल्याण आपने समझा है? श्रेय तो वही है, जिसके द्वारा दुःख का अत्यन्ताभाव हो जाय, शाश्वत सुख की उपलब्धि हो जाय। अश्वमेधादियज्ञ यदि साङ्गोपाङ्ग विधिवत् समाप्त हो गये, तो उनसे स्वर्गादिलोकों की ही प्राप्ति हो सकती है। स्वर्गादिलोक क्षयिष्णु हैं, नाशवान् हैं, परिणाम में दुःख प्रद हैं। इन काम्यकर्मों के द्वारा परम श्रेय की प्राप्ति असंभव है, तो क्या आप इस आवागमन के चक्कर में सदा फँसे रहना ही चाहते हैं?"

यह सुनकर हाथ जोड़े हुए विनीत भाव से महाराज प्रचीन-वर्हि बोले—"प्रभो! मेरी बुद्धि आरम्भ से ही कर्ममार्ग में व्याप्त हो रही है। इन काम्यकर्मों के अतिरिक्त और भी कोई श्रेय का मार्ग है, इसे मैं अभी तक जानता ही नहीं।"

इस पर नारदजी ने कहा—"राजन्! इस कर्म मार्ग से भी श्रेष्ठ एक मार्ग है। ज्ञान के बिना मुक्ति असंभव है। ज्ञानी ही इस भवसागर को तर सकता है। ज्ञान नौका से ही संसार समुद्र पार किया जा सकता है।"

महाराज प्राचीनवर्हि ने कहा—"प्रभो! गृहस्थाश्रम में रह यह मूढ़ प्राणी इस देह के पालन पोषण का स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, कुटुम्ब परिवार आदि इन्हीं सबको परम पुरुषार्थ माने वैठा है। इसी कारण वार-वार जन्मता है, वार-वार मरता है। यह आवागमन का मार्ग वन्द नहीं होता। संसार में ही निरन्तर भटकते रहने से परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः हे महाभाग! मुझे आप ज्ञान मार्ग का उपदेश दें, जिस निर्मल ज्ञान के द्वारा मैं कर्म वन्धन से सदा के लिये मुक्त हो सकूँ।"

महाराज के ऐसे विनीत वचन सुनकर नारदजी ने अपने योगबल से, उन पशुओं को आकाश में बुला दिये जिन्हें महाराज ने यज्ञों मे बलि दिया था। उन सबको दिखाते हुए भगवान् नारद कहने लगे—"राजन्! यह देखिये, यह देखिये आकाश मे ये कौन दिखाई दे रहे हैं।"

महाराज ने ऊपर देखते हुए कहा—"भगवन्! ये तो कोई घोड़े हैं, कोई बकरे है। ये तो सबके सब बड़े क्रोधित हो रहे हैं, बहुत से तो अपने लोहे के समान दृढ़ पैने सींगों से किसी को मारने के लिये उद्यत हैं। इनके क्रोध का कारण मुझे बताइये ?"

यह सुनकर हँसते हुए नारदजी बोले—"राजन्! आप इन्हें नहीं जानते ? ये तो सब आपके परिचित हैं। जिनका आपने अपने यज्ञ में निर्दयता पूर्वक बलिदान दिया था, ये सब वे ही यज्ञ पशु हैं।"

इस पर महाराज बोले—"तब प्रभो! ये इतने क्रोधित क्यों हैं ?"

सरलता से नारदजी बोले—"महाराज! यदि आपको कोई मारे तो क्या आप क्रोध न करेंगे ? आपने इनको मारा है, ये सब आपके ही ऊपर क्रोध किये स्वर्ग में बैठे हैं, जहाँ आप मरकर स्वर्ग गये, तहाँ ये सब अपना बदला लेंगे। अपने लोहमयतीक्ष्ण सींगों से आपके सम्पूर्ण शरीर को छेदेंगे। मरते समय इन्हे जो पीड़ा हुई थी वही आपको देंगे।"

इस पर घबड़ाते हुए महाराज ने कहा—"भगवन् अब जो हुआ सो तो हो गया। अब इस विपत्ति से उद्धार कैसे हो ? क्या करने से यह भावी विपत्ति टल सकती है ?"

यह सुनकर नारदजी गम्भीर हो गये और बोले—"राजन्! यह विपत्ति तभी टल सकती है, जब आप मेरी सीख शिरोधार्य

करें। मेरे बताये हुए मार्ग का अनुसरण करें। मेरे उपदेश को आप श्रद्धा सहित श्रवण करें।"

घबड़ाये हुए दीनता के स्वर में महाराज बोले—"प्रभो! मैं अवश्य आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। आप मुझे इस कर्म बन्धन से छूटने का उपदेश करें। मुझे शिक्षा दें।"

इस पर नारदजी बोले—"राजन्! हम शिक्षा तो पीछे देंगे। पहिले आप एक बड़ी सुन्दर-सी कहानी सुनिये।"

इस पर शीघ्रता से महाराज बोले—"महाराज! किस्सा कहानी तो पीछे सुनाइयेगा। पहिले मुझे कर्म बन्धन से छूटने का उपदेश दें।"

धैर्य के साथ नारदजी ने कहा—"राजन्! घबड़ाते क्यों हैं, सुनिये। कहानी किस्से सब बुरे ही नहीं होते। कहानियों से कभी-कभी बड़ी शिक्षा मिलती है। कई चक्रवर्ती राजा कहानी सुनते-सुनते ही विरागी बन गये। शिक्षाप्रद कहानियों का जितना प्रभाव पड़ता है, उतना शुष्क उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ता। मैं जो कहानी सुनाऊँगा उससे आपको अपने विषय समझने में बहुत सहायता मिलेगी।"

यह सुनकर राजा बोले—"अच्छी बात है, तब महाराज! सुनाइये कहानी ही।"

नारदजी ने कहानी आरम्भ की—"राजन्! पूर्व समय में पुरञ्जन नाम का एक समृद्धिशाली राजा था। वह बड़ा शूर वीर यशस्वी और पराक्रमी था। दशों दिशाओं में उसकी कीर्ति व्याप्त थी। वह बड़ा मनमौजी था, उसने एक-एक करके चौरासी लाख नगर देखे किन्तु उसे कोई नगर कोई वस्तु अच्छा नहीं लगा। इसलिये वह अपने मनोनुकूल पुर की खोज में पृथ्वी पर इधर से उधर भटकता फिरा। एक कहावत है "जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ" वह राजा भी घर कूँच घर मञ्जिल चलते-चलते

किसी पुरी के पास पहुँचा। उस पुरी को देखते ही उसका मन मुकुर खिल उठा। अन्तःकरण को कलियाँ खिल गईं। अब तक उसने जितने पुर देखे थे उनमें विषय भोग भोगने की समस्त सामग्रियाँ पर्याप्त नहीं थीं।

अबके उन्होंने जो पुरी देखी थी, वह हिमालय के दक्षिण की ओर समस्त लक्षणों से लक्षित समस्त भोगों से सम्पन्न और समस्त शोभाओं से युक्त थी। नगरी विस्तृत थी। अटा अटारी छज्जे तिवारी, राज पथ चौराहे, गली कूँचों से शोभायमान थी। वहाँ के महलों में परम रमणीय ओखा, मोखा, झारी, झरोखा थे। उसमें नव दरवाजे थे। उसके चारों ओर सुदृढ प्राकार थीं। उद्यान, उपवन और आरामों से वह सुशोभित थी, चारों ओर उसके गहरी खाई खुदी थी। वन्दनवार तोरण ध्वजा पताकाओं से वह सुसज्जित थी। कहीं सोने के शिखर वाले भवन थे तो कहीं चाँदी, पीतल तथा लोहे के शिखर चमचमा रहे थे। स्थान स्थान पर घूमने फिरने के बगीचे थे, बैठने उठने सभा समाज करने के खुले स्थल थे। जिनमें मनोरजन के लिये नाटक, खेलकूद आदि मनोरजक व्यापार होते रहते थे। नगर के परकोटे से सटा हुआ ही एक अनुपम उपवन था। जिनमें कल्पवृक्ष के समान सुन्दर सुहावने दिव्य वृक्ष थे। हरी हरी लहलहाती लतायें उनका कसकर आलिंगन किये हुए थीं, जिनसे प्रतिक्षण वे रोमाञ्चित सी दिखाई देती थीं। उन पर बैठे हुए शुक, पिक, पारावत आदि पक्षी उसी प्रकार कलरव कर रहे थे, मानों राजा के विनोद के लिये सूत मागध बन्दी बन्दना तथा स्तुति गान कर रहे हों। इधर से उधर भ्रमर उसी प्रकार गुञ्जार करते फिरते थे मानों गन्धर्व अपने समूह के सहित वीणा बजाते हुए आकाश में घूम रहे हों। उपवन के मध्य भाग में निर्मल नीर वाला स्वच्छ सरोवर था, जिसमें हंस, चकवाक, जलकुक्कुट आदि जल जन्तु आनन्द

में मग्न होकर चहचहा रहे थे। सरोवर के समीपवर्ती शीतल प्रपातों के कण, पवन मे उड उडकर वसन्तकालीन वायु से मिल कर पुनीत पादप पल्लवों की थपेडियों को इधर-उधर छितराये चारों ओर शीतलता का साम्राज्य स्थापित किये हुए थे। ऐसे सुन्दर नगर को देखकर पुरञ्जन का मन अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! उस पुरी की शोभा देख कर पुरञ्जन राजा का मन ललचा उठा। उसकी जीभ में पानी आ गया। आज तक जो लाखों पुरियाँ थीं, उन सबसे इस पुरी की छटा निराली थी। किन्तु वह पुरी खाली नहीं थी, उसमें कोई बाँके नयनों वाली विराजमान थी। अब उससे किसी प्रकार चार आँखें हों, इसी की चिन्ता उस सुकुमार राजकुमार को होने लगी।"

### छप्पय

*मुनि बोले—सुनु भूप! पुरञ्जन! नृप इक भारी।*
*पाऊँ पावन पुरी चल्यो मन माहिँ विचारी॥*
*चौरासी लख परी लखीं मन एक न आई।*
*हिमगिरिदच्छिन ओर लखी शुभ पुरी सुहाई॥*
*सजी बजी नव वधू सम, उपवन सर सौन्दर्ययुत।*
*निरखि नयन विकसित भये, भयो दरश करि चपलचित॥*

# पुरञ्जन का पुरञ्जनी से प्रेम प्रश्न

[ २८६ ]

त्वदाननं सुभ्रु सुतारलोचनम्
व्यालम्बिनीलालकवृन्दसंवृतम् ।
उन्नीय मे दर्शय वल्गुवाचकम्
यद्व्रीडया नाभिमुखं शुचिस्मिते ॥*
(श्रीभा० ४ स्क० २५ अ० ३? श्लोक)

छप्पय

*तामें निरखी एक नयन अभिरामा नारी ।*
*नूतन वय युत परम सुन्दरी अति सुकुमारी ॥*
*सरसिज सम वर नयन बदन सुन्दर मधुमय अति ।*
*अलकावलि अति कुटिल राजहंसिनि सम शुभगति ॥*
*नयन नासिका दन्त मुख, भृकुटि एक तें एक वर ।*
*हिय श्रोणी उभरे पृथुल, कटि भीनी चितवन सुघर ॥*

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! पुरजनी को पाकर पुरजन उससे स्नेह भरित वाणी में कहने लगा—"हे शुचिस्मिते ! तुम्हारा मुखारविन्द पुनीत पुतलियों और भव्य भृकुटियों से युक्त नयनों से सुशोभित काली-काली है, घुँघराली अलकों से वह आवृत है, जो व्रीडावश मेरी ओर उठता नहीं है । हे प्रिये ! उस मृदुभाषी मनोहर मुखारविन्द को तनिक ऊँचा उठाकर मुझे आँखे भरकर दिखा तो दो । ऐसी लज्जा भी किस काम की ।"

जिन्हें त्रिगाता के यहाँ से एकाकी रहने का शाप है उन त्यागी, विरागी भिखारी नानानियों की बात तो दीजिये छोड़, नहीं तो संसार में एकाकी रहने में सुख नहीं। भगवान् भी क्रीड़ा करने इस अवनि तल पर अवतरित होते हैं, तब एकाकी रमण नहीं करते। वे भी दूसरे की इच्छा करते हैं। द्वैत में ही लीला बन सकती है। दो में ही रमण हो सकता है। योगमाया के आश्रय बिना यह हृदय प्रपञ्च नाटक खेला ही नहीं जा सकता। हृदय द्वैत चाहता है, खाली एक व उसका स्वभाव नहीं। दूसरे को सटा कर, हृदय से लगाकर, उसमें से द्वैत मिटाकर एकत्व करने की उसकी अभिलाषा रहती है। कीट पतंग से लेकर ब्रह्मलोक के ईश पर्यन्त सभी तो द्वैत के आकर्षण में बँधे हैं। कोई भी तो रहना नहीं चाहता।

यौवन के उभार कैशोर के आरम्भ में हृदय किसी से मिलने को किसी को हृदय से चिपकाने को उन्मत्त हो उठता है। वह बन्धन में रहने से स्पष्ट इन्कार करने लगता है। तभी तो लड़के लड़कियों की १५ १६ वर्ष की अवस्था होते ही माता पिता अत्यन्त व्यग्र हो उठते हैं। वे जोड़ा मिलाने को व्याकुल हो जाते हैं, क्योंकि वे भी कभी १५ १६ वर्ष की अवस्था वाले रह चुके हैं, वे भी उस छटपटाहट का अनुभव कर चुके हैं, वे भी उस मिलन की मीठी मीठी गुदगुदी को सिहरन सह चुके हैं। अत लड़की हुई तो सबसे कहते फिरते हैं, बच्ची स्यानी हो गयी है, किसी तरह इसके पीरे हाथ हो जायँ। लड़का हुआ तो कहते हैं, किसी तरह यह अपना घर सम्हाल ले इसकी गठबन्धन हो जाय, तो हम छुट्टी पावें। फिर यह जाने इसका काम जाने। माता पिता की इन बातों को सुनकर हृदय में कैसी गुदगुदी होने लगती है, बहुत छिपाने पर भी लज्जा भरे मुख से प्रसन्नता की किरणें कैसे फूट निकलती हैं, इसे पारखी ही समझ सकते हैं। दोनों हृदय किसी

मधुर मिलन की मादक स्मृति में मदमत्त बने उत्सुकता से उस बेला की प्रतीक्षा में व्यग्र बन रहते हैं। फिर उस प्रथम सम्मिलन में क्या सुख है, उस सुहाग की सुहावनी रात में क्या है, ये सब कहने लिखने की बात नहीं। अनुभव की बातें हैं। बच्चे इस समझाने से भी नहीं समझ सकते। समझने वालों के लिये संकेत ही यथेष्ट है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—'विदुरजी! राजा पुरञ्जन ने जब हिमालय के दक्षिण भाग में सुन्दर सजी हुई मनोहर पुरी को देखा तो वह सोचने लगा—"इसमें चहल-पहल तो हो रही है। अवश्य ही इसमें कोई रहता है। बिना पुरी के स्वामी की आज्ञा के मैं भीतर कैसे जाऊँ। इतने में उसने क्या देखा कि एक हाथ में क्रीडा कन्दुक लिये हुए उसे विनोद के निमित्त उछालती हुई यौवन के भार से बोझिली होने के कारण अलसाती हुई मन्द-मन्द गति से इधर की ओर ही आती हुई एक ललना आ रही है। उसे देखते ही पुरञ्जन हक्का बक्का-सा रह गया। उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानों सौन्दर्य ही सुन्दरी का साकार रूप रखकर मुझे व्यथित बनाने के लिये आ रहा है। अथवा यह त्रैलोक्य सुन्दरी लक्ष्मी जी अपने सौन्दर्य का प्रदर्शन करती हुई इधर से आ रही है।"

पुरञ्जन ने देखा उस रमणी के पीछे दश सेवक हैं। उन दश सेवकों के साथ भी सैकड़ों सैकड़ों दासियाँ हैं। पाँच सिर वाला एक सर्प उसी की सर्वतोभाव से सुरक्षा कर रहा है। ऐसा अनुमान होता है, कि उसने अभी अभी किशोरावस्था को पार करके यौवनावस्था में पदार्पण किया है उसकी आकृति प्रकृति से प्रतीत होता है कि उसका हृदय किसी को खोज रहा है वह अपने अनुरूप किसी दूल्हा की खोज में उतावली-सी हो रही है। वह एकाकी तड़प रही है, उसे द्वित्व की अभिलाषा है किसी को अपने

भरे हुए हृदय को सींचकर हरा करना चाहती है। यह अपने दुःख के लिये किसी सुन्दर सहृदय साथी की कामना कर रही है।

पुरञ्जन ने देखा यह ललना सौन्दर्य और सौकुमार्य की साकार प्रतिमा ही है। नासिका उसकी नुकीली है, दन्तावली स्वच्छ शुभ्र और चमचमाती हुई नुकीली सी पान की पीक से अरुण होने के कारण वह दाड़िम के दाना की भाँति कुछ कुछ लालिमा लिये हुए है। लोल कपोल गोल और गुदगुदे हैं। मुख मन्द-मन्द मुसकान से युक्त है। कानों के कमनीय कुण्डल कपोलों की कान्ति को बढ़ाते हुए हिल रहे हैं। उसका कटि प्रदेश अत्यन्त सुन्दर और झीना है। अलसी के पुष्प के समान, नीलमणि के समान आभायुक्त श्यामवर्ण के ऊपर पीली-पीली साड़ी इस प्रकार सुशोभित हो रही है मानों जल भरे मेघों में दामिनी दमक रही हो। कटि प्रदेश में सुवर्ण की करधनी हिलती तथा शब्द करती हुई ऐसी प्रतीत होती थी मानों वह उस मनोरमा से मना कर रहा है, कि तुम इतनी सुकुमारी होकर पैर को कष्ट मत दो। उसके दोनों चरणतल इतने सम थे, कि पृथ्वी पर रखने के अनन्तर छोटी चींटी का बच्चा भी उनके नीचे नहीं घुस सकता था। वे इतने सम और अरुण थे मानों किसी ने लाल मखमल का गुदगुदा गद्दा एक-सा बनाकर चिपका दिया हो। चलने के कारण चरणों में झनकार करते हुए नूपुर ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों वे पैर पकड़ कर पादतलों के साथ किये जाने वाले अत्याचार के लिये रुदन कर रहे हों। जंघा, उरु, कटि, नाभि, उदर सभी समान और यथायोग्य उसके श्रीअङ्ग की शोभा बढ़ा रहे थे। युवावस्था के उभार के कारण व्याञ्जस्तनी होने के कारण युगल उरोज सटे हुए और शोभायुक्त थे। पवन देव उनके दर्शनों के अत्यन्त लोलुप होने के कारण उनके ऊपर पड़े हुए अञ्चल को पुनः पुनः खिसका देते थे। वह पवन पर क्रुद्ध हुई लज्जित भाव

से बार-बार उन्हें कृपण के धन के समान छिपाने में अधीर-सी प्रतीत होती थी।

पुरञ्जन ने देखा वह ललना क्या है आखेट करने वाली किरातिनी के समान धनुष बाण धारण किये, हम जैसे कामिनी कीड़ा मृगों को घायल करती हुई घर के घेरे-घेरे में घूम रही है। उसने प्रेमोद्वेग के कारण चञ्चल हुए अपने भृकुटि धनुष से प्रणय कटाक्ष रूप बाणों द्वारा पुरंजन को बुरी तरह बेध दिया। उसे बाणों से बिद्ध करके भी वह वहाँ से हटी नहीं, किन्तु लज्जा पूर्वक मन्द मन्द मुस्कान से उसके बाणों से हुए घावों पर नमक-छिड़कती हुई जहाँ की तहाँ नीचा सिर किये हुए खड़ी की खड़ी ही रह गई। तब तो कटाक्षबाणों की व्यथा से व्यथित हुआ पुरंजन उस सुर सुन्दरी ललाम ललिता से ललित वाणी में बोला—"हे कमलदल लोचने! तुम कौन हो।"

वह नारी रत्न यह सुनकर चुप हो गई कुछ बोली नहीं। पुरंजन ने सोचा मैंने भूल की। नीतिकारों का कथन है अपना नाम नहीं लेना चाहिये। अतः फिर उसने शीघ्रता से पूछा—"अच्छी बात है अपना नाम मत बताओ, यह बताओ तुम किस बड़भागी के कुल की कीर्ति बढ़ाने वाली कुलवती कन्या हो?"

पुरंजन ने सोचा—"कन्या कभी भी अपने पिता का नाम नहीं बता सकती। इसीलिये बोला—"अच्छा जाने दो। मुझे नाम गोत्र से क्या लेना। मुझे तो तुम्हारी मधुर वाणी सुनने की उत्कण्ठा है, इसलिये यही बता दो, इस समय तुम कहाँ से आ रही हो। इस पुरी के पास वाले उपवन में तुम क्यों घूम रही हो? तुम्हारे इस प्रकार घूमने का क्या अभिप्राय है?"

इतने प्रश्न पूछने पर उस मानिनी ललना ने एक का भी उत्तर पुरंजन को नहीं दिया। तब तो उसने बात का प्रवाह पलट दिया और बोला—'अच्छा, ये जो तुम्हारे पीछे ११ रूजे बजे

सरक चल रहे हैं ये कौन हैं ? यह ५ फन वाला सर्प कौन है, ये आरक्षक साथ सजी सजाई सुन्दरी सैकड़ों सहेलियों के समान स्त्रियाँ कौन हैं ? जब इस प्रकार पूछने पर भी उस सुन्दरी ने कुछ उत्तर नहीं दिया तब तो पुरञ्जन को संदेह हुआ संभव है यह मुझसे घृणा करती हो। मुझसे बातें करने में अपना अपमान समझती हो। यह सोचकर उसने उसके मृदुल मुखारविन्द की ओर ममता भरी दृष्टि से देखा। उसने अनुभव किया यह मुझे प्यार करती है इसका हृदय भी मेरी तरह ही द्रवित हो रहा है। लज्जा के कारण यह उत्तर नहीं दे रही है। यदि मुझसे घृणा करती तो तत्क्षण यहाँ से चली जाती, किन्तु यह तो काठ की मूर्ति के समान निश्चल भाव से नीचा सिर किये हुए खड़ी है। यह मुझे अनुराग की दृष्टि से देख रही है, अतः उसका पूछने का साहस और भी बढ़ा। अब उसने पूछने का दूसरा ढङ्ग ही निकाला। लज्जा के कारण यह बोलती नहीं तो सिर हिलाकर 'हाँ' और 'ना' का संकेत तो कर ही सकती है। अतः मैं इससे अपने अनुमान के अनुसार पूछना आरम्भ करूँ। यह सोचकर उसने फिर से पूछना आरम्भ किया।

पुरञ्जन बोला—"देवि ! तुम धर्मपत्नी साक्षात् लज्जा देवी तो नहीं, संभव है धर्म कहीं चले गये हों और आप उन्हें यहाँ एकान्त में उसी प्रकार खोज रही हो, जैसे ऋषि मुनि एकान्त में रहकर भगवान की खोज करते हैं। तुम्हारी इस लज्जा से मुझे तो ऐसा ही प्रतीत होता है, तुम साक्षात् लज्जा देवी ही हो।"

इस पर भी उस स्त्री ने न 'हाँ' का सिर हिलाया न 'ना' का, तब पुरञ्जन कहने लगा - "अच्छा, तुम पार्वती देवी तो नहीं हो या सरस्वती होगी। अच्छा ठीक है नहीं नहीं तुम साक्षात् लक्ष्मी देवी हो। मालूम होता है भगवान् से प्रणय कलह हो जाने के कारण तुम उनसे अलग हो गई हो। किन्तु तुम्हारे हाथ का

कमल कहाँ चला गया। लक्ष्मीजी तो कमला होने के कारण सदा कमल हाथ में रखती हैं। एक सन्देह मुझे और भी हो रहा है। स्वर्ग की ललनायें पृथ्वी का स्पर्श नहीं करतीं। तुम्हारे अरुण वरण के कोमल चरण तो कठिन अवनि का स्पर्श कर रहे हैं, इससे तुम स्वर्गीय ललना प्रतीत नहीं होतीं। तुम इस मर्त्यलोक की ही सुन्दरी हो। अब मुझे मालूम हो गया। तुम किसी की पत्नी नहीं कुमारी कन्या हो, अभी तक तुम्हारा किसी के साथ गठबन्धन नहीं हुआ। अभी तक तुम्हें किसी ने स्पर्श नहीं किया। अभी तुम अमनिया कलिका हो यदि तुम्हारी मेरे ऊपर कृपा है, तो मुझे अपना सेवक स्वीकार कर लो। तुम्हारी आज्ञा का पालन करता हुआ मैं तुम्हारी सब प्रकार की सेवा करके अपने जीवन को सार्थक करूँगा। हे वरोरु! तुम्हारी सलज्ज मधुर मुस्कान युक्त भ्रूभगी से प्रेरित यह प्रबल कामदेव निर्बल जानकर मुझे परम पीडित कर रहा है। तुम्हारे कटाक्ष विक्षेप से विकलेन्द्रिय हुआ मैं किंकर्त्तव्य विमूढ़-सा बना हुआ हूँ, इसीलिये हे सुमुखि! तुम मुझ दीन पर दया करो। ऐसी कठोरता ठीक नहीं। आश्रितों के साथ इतनी निष्ठुरता उचित नहीं। शरणागतों के संग इतनी निर्दयता तुम जैसी मनोरमा कोमलाङ्गी के लिये उचित नहीं। तुम अपने चन्द्रमुख को झुकाये हुए क्यों हो? काली पुतलियों से युक्त विकसित सरसिज के समान सुकले नयनों से शोभित काली-काली घुँघराली सटकारी चिकनी कुटिल अलकावली से युक्त इस मृदुमधुर मनोहर मुखारविन्द को तनिक उठाकर मदन की मार से मुरझाये हुए मुझको कुछ सान्त्वना दो। तनिक मेरी ओर कृपा की दृष्टि डालकर सुधा की वृष्टि करो मैं दीन हीन कब से कितने प्रश्न पूछ रहा हूँ, उनमें से किसी का उत्तर देकर मेरे कर्ण कुहरों में अमृत उडेल दो। अपनी मधुमयी वाणी से मेरे सूखे हृदय को सरस कर दो।"

सेवक चल रहे हैं ये कौन हैं ? यह ५ फन वाला सर्प कौन है, ये आपके साथ सजी सजाई सुन्दरी सैकड़ों सहेलियों के समान स्त्रियाँ कौन हैं ? जब इस प्रकार पूछने पर भी उस सुन्दरी ने कुछ उत्तर नहीं दिया तब तो पुरजन को सन्देह हुआ सम्भव है यह मुझसे घृणा करती हो। मुझसे बातें करने में अपना अपमान समझती हो। यह सोचकर उसने उसके मृदुल मुखारविन्द की ओर ममता भरी दृष्टि से देखा। उसने अनुभव किया यह मुझे प्यार करती है इसका हृदय भी मेरा तरह ही द्रवित हो रहा है। लज्जा के कारण यह उत्तर नहीं दे रही है। यदि मुझसे घृणा करती तो तत्क्षण यहाँ से चली जाती, किन्तु यह तो काठ की मूर्ति के समान निश्चल भाव से नीचा सिर किये हुए खड़ी है। यह मुझे अनुराग की दृष्टि से देख रही है, अतः उसका पूछने का साहस और भी बढ़ा। अब उसने पूछने का दूसरा ढङ्ग ही निकाला। लज्जा के कारण यह बोलती नहीं तो सिर हिलाकर 'हाँ' और 'ना' का संकेत तो कर ही सकती है। अतः मैं इससे अपने अनुमान के अनुसार पूछना आरम्भ करूँ। यह सोचकर उसने फिर से पूछना आरम्भ किया।

पुरजन बोला—"देवि ! तुम धर्मपत्नी साक्षात् लज्जा देवी तो नहीं, सम्भव है धर्म कहीं चले गये हों और आप उन्हें यहाँ एकान्त में उसी प्रकार खोज रही हो, जैसे ऋषि मुनि एकान्त में रहकर भगवान की खोज करते हैं। तुम्हारी इस लज्जा से मुझे तो ऐसा ही प्रतीत होता है, तुम साक्षात् लज्जा देवी ही हो।"

इस पर भी उस स्त्री ने न 'हाँ' का सिर हिलाया न 'ना' का, तब पुरजन कहने लगा "अच्छा, तुम पार्वती देवी तो नहीं हो या सरस्वती होगी। अच्छा ठीक है नहीं नहीं तुम साक्षात् लक्ष्मी देवी हो। मालूम होता है भगवान से प्रणय कलह हो जाने के कारण तुम उनसे अलग हो गई हो। किन्तु तुम्हारे हाथ का

कमल कहाँ चला गया। लक्ष्मीजी तो कमला होने के कारण सदा कमल हाथ में रखती हैं। एक सन्देह मुझे और भी हो रहा है। स्वर्ग की ललनायें पृथ्वी का स्पर्श नहीं करतीं। तुम्हारे अरुण वरण के कोमल चरण तो कठिन अवनि का स्पर्श कर रहे हैं, इससे तुम स्वर्गीय ललना प्रतीत नहीं होतीं। तुम इस मर्त्यलोक की ही सुन्दरी हो। अब मुझे मालूम हो गया। तुम किसी की पत्नी नहीं कुमारी कन्या हो, अभी तक तुम्हारा किसी के साथ गठबन्धन नहीं हुआ। अभी तक तुम्हें किसी ने स्पर्श नहीं किया। अभी तुम अमनिया कलिका हो यदि तुम्हारी मेरे ऊपर कृपा है, तो मुझे अपना सेवक स्वीकार कर लो। तुम्हारी आज्ञा का पालन करता हुआ मैं तुम्हारी सब प्रकार की सेवा करके अपने जीवन को सार्थक करूँगा। हे वरोरु! तुम्हारी सलज्ज मधुर मुस्कान युक्त भ्रूभंगी से प्रेरित यह प्रबल कामदेव निर्बल जानकर मुझे परम पीड़ित कर रहा है। तुम्हारे कटाक्ष विक्षेप से विकलेन्द्रिय हुआ मैं किंकर्तव्य विमूढ-सा बना हुआ हूँ, इसीलिये हे सुमुखि! तुम मुझ दीन पर दया करो। ऐसी कठोरता ठीक नहीं। आश्रितों के साथ इतनी निष्ठुरता उचित नहीं। शरणागतों के संग इतनी निर्दयता तुम जैसी मनोरमा कोमलाङ्गी के लिये उचित नहीं। तुम अपने चन्द्रमुख को झुकाये हुए क्यों हो? काली पुतलियों से युक्त विकसित सरसिज के समान नुकीले नयनों से शोभित काली-काली घुँघराली लटकारी चिकनी कुटिल अलकावली से युक्त इस मृदुभाषी मनोहर मुखारविन्द को तनिक उठाकर मदन की मार से मुरझाये हुए मुझको कुछ सान्त्वना दो। तनिक मेरी ओर कृपा की दृष्टि डालकर सुधा की वृष्टि करो मैं दीन हीन कब से कितने प्रश्न पूछ रहा हूँ, उनमें से किसी का उत्तर देकर मेरे कर्ण कुहरों में अमृत उडेल दो। अपनी मधुमयी वाणी से मेरे सूखे हृदय को सरस कर दो।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब मदन की व्यथा से हीन हुए कामो पुरजन ने उस पुर की स्वामिनी सुन्दरी से इस प्रकार विनय युक्त वचन कहे, तब वह मधुर मधुर मुस्कराती हुई कुछ लज्जा और प्रसन्नता के साथ अपने कोकिल कूजित कण्ठ से शनैः शनैः कहने लगी—वीर! आप इतनी देर से प्रश्न पूछ रहे हैं, मैं लज्जावश कुछ उत्तर न दे सकी। किन्तु तुम्हारे प्रेम ने मुझे विवश कर दिया, कि मैं तुम्हारे सभी प्रश्नों का उत्तर दूँ। अब आप क्रमशः अपने सभी प्रश्नों का उत्तर सुनें। यह कहकर पुरंजनी पुरजन के प्रश्नों का उत्तर देने को प्रस्तुत हुई।"

### छप्पय

*प्रणय कटाक्ष सुबाण भ्रुकुटि कोदण्ड चढ़ायो।*
*मारि किरातिनि सरिस पुरजन पट्ट गिरायो॥*
*लड़खड़ात घबरात विनययुत बोल्यो बानी।*
*को तुम का की लली बनी कस पुर की रानी॥*
*सकुचि त्यागि मुख कमल कूँ, मेरी ओर घुमाइकें।*
*अपनाओ अब तुरत तुम, सेवक मोहिँ बनाइकें॥*

---

# पुरञ्जन और पुरञ्जनी का गठबन्धन

[ २८७ ]

इति तौ दम्पती तत्र समुद्य समयं मिथः ।
तां प्रविश्य पुरीं राजन् मुमुदाते शतं समाः ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० २५ अ० ४३ श्लो०)

छप्पय

*कहे पुरञ्जनि प्रभो ! नाम अरु गोत्र न जानूँ ।*
*किन्तु तुम्हें हृदयेश प्रान धन सर्वस मानूँ ॥*
*आओ हिल मिल रहें नयो इक जगत् बनावें ।*
*आपस में ही रमें और सब विश्व भुलावें ॥*
*तन तन में मन-मन मिलहिँ, प्रान प्रान तें एक करि ।*
*हृदय सौंपि तव अङ्कमहँ, सोऊँ सुख तें शीश धरि ॥*

जो अपने से स्नेह करता हो, हृदय से चाहता हो, उसके प्रश्नों का उत्तर देने में हृदय में एक प्रकार का अनिर्वचनीय सुख होता है। दो हृदय जब मिलकर गुह्य रहस्य की बातें करते हैं, तो सरसता वहाँ आकर अपना साम्राज्य जमा लेती है। प्रेम के आदान प्रदान में, प्रेम के प्रस्ताव में और प्रेम की स्वीकृति में उत्तरोत्तर अधिकाधिक सुख होता है। प्रेम हृदय की वस्तु है, प्रेम

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—'विदुरजी ! नारदजी राजा प्राचीनबर्हि से कह रहे हैं—"हे राजन् ! इस प्रकार उन पुरजन और पुरजनी ने परस्पर ये बातें करके उस नगर में प्रवेश करके सौ वर्ष पर्यन्त आनन्द भोगा।"

को भाषा मौन है, किन्तु पुरुष की यह अपूर्णता है, कि प्रेम मानवीय भाषा में व्यक्त करता है, शरीर संसर्ग द्वारा उस प्रकाशन करता है। यदि मनुष्य में इतनी त्रुटि न होती, तो देवताओं से भी बढ़कर होता। प्रेम का सम्बन्ध जहाँ शरीर वाणी के अथवा इस हाड़ चाम का वस्तुओं के साथ हुआ व वह सांसारिक विषय के रूप में परिणत हो जाता है। हृदय वस्तु दिव्य है, भौतिक शरीर से सम्बन्धित वस्तु क्षणिक है, ना वान् है, आवागमन को बढ़ाने वाली है।

नारदजी कहते हैं "राजन्! जब पुरजन राजा ने उस प्रम के कटाक्ष बाण से व्यथित होकर ऐसे दीनता के शब्द कहे औ बहुत से प्रश्न पूछे, तब ललना लजाती हुई, इठलाती हुई अत्य ही स्नेह से सनी वाणी में कहने लगी—"हे शूरवीर! तुम कैस बातें कह रहे हो? तुम्हें इस प्रकार के दीनता पूर्ण वचन शो नहीं देते।"

उस बाला की वीणा विनिन्दित वाणी सुनकर पुरजन व प्रसन्नता का वारापार नहीं रहा। वह बोला—"भामिनी! आ मैं कृतार्थ हुआ। तुम्हारी कोकिल की कूक को भी तिरस्कृत कर वाली वाणी सुनकर मेरी तृप्ति नहीं हो रही है। मुझे ऐसा प्रती हो रहा है, मानों कोई मेरे कर्ण कुहरों में अमृत उड़ेल रहा हो तुम मेरे प्रश्नों का उत्तर क्यों नहीं देती थीं। क्या मुझ सेवक कोई अपराध बन गया है क्या?"

यह पुरजनी बोली—"देव! आप ये कैसी अपनेपन से रहित बातें कर रहे हैं। मैं आपके प्रश्नों का क्या उत्तर दूँ? आपने मेरा नाम और गोत्र पूछा मुझे स्वयं उसका पता नहीं। मेरा क्या नाम है क्या गोत्र है। फिर आपने मेरे पिता के सम्बन्ध में पूछा मैंने कभी अपने पिता के दर्शन नहीं किये, मैं जानती ही नहीं किसने मुझे उत्पन्न किया। मुझे यहाँ की रानी किसने बना दिया।

इस सम्बन्ध में भी मैं कुछ नहीं जानती। केवल यही जानती हूँ कि मैं यहाँ रहती हूँ, जैसी भी भली बुरी हूँ आपके सम्मुख उपस्थित हूँ।"

पुरंजन ने शीघ्रता के साथ कहा—"जाने भी दो इन नाम धाम में क्या रखा है। प्रेमियों का एक ही नाम है प्रेमा, उनकी एक ही जाति है प्रेम। हाँ, अपनी इस पुरी के सम्बन्ध में कुछ जानती हो, तो उसे बताओ, अपने इन सेवक और सेविकाओं का मुझसे परिचय कराओ।"

पुरंजनी बोली—'हे शत्रुतापन! इस पुरी का भी मुझे पता नहीं किसने बनाई। हाँ, ये जो आप ११ पुरुष देख रहे हैं ये मेरे सेवक हैं। एक मेरा प्रधान सेवक मन्त्री है, ये १० उपमन्त्री इनके अधीन हैं। ये जो झुण्ड की झुण्ड स्त्रियाँ हैं, ये सभी मेरी दासियाँ हैं। ये असंख्य हैं इनकी गणना करना कठिन है। यह जो आप पाँच फन वाला सर्प देख रहे हैं, यह इस पुरी का रक्षक है। मेरे सो जाने पर भी यह सदा जागरूक रहता है, कभी सोता नहीं। सावधानी के साथ जागते हुए पहरा देता रहता है। यह तो मैंने अत्यन्त संक्षेप में अपने साथियों का परिचय दिया। अब मैं आपका भी कुछ परिचय पा सकूँ तो अपने को कृतार्थ समझूँ?"

आशा और विषाद के स्वर में पुरंजन ने कहा—"मेरा परिचय! मेरा क्या परिचय? मैं एक प्रेम का पगला पथिक हूँ, प्रेमा की खोज में द्वार द्वार भटकता फिरता हूँ। कोई सच्चा सुहृद मिल जाय, उसे अपना हृदय सौंपकर सदा सुख का आस्वादन करता रहूँ। यही मेरी अभिलाषा है। बहुत सुख के निमित्त बहुत सी पुरियों में मैंने विविध विषयों का उपभोग किया, किन्तु कहीं भी मेरी तृप्ति नहीं हुई। यदि तुम मुझे अपना लो तो मैं कृतार्थ हो जाऊँ।"

उस प्रमदा ने कहा—"प्रियतम ! अन्धकार में अकेली भटकती हुई मुझ अबला का यह सौभाग्य सूर्य उदय हुआ है, जो आप जैसे मनस्वी यशस्वी वीर पुरुष के देव दुर्लभ दर्शन प्राप्त हो सके। हे प्रिय दर्शन ! यदि आपको अतुल विषय भोगों के भोगने की इच्छा है, तो मैं आपका हृदय से स्वागत करती हूँ। आइये, इस घर को अपनाइये, इस अभागिनी को सनाथ बनाइये। मेरी सेवा स्वीकार कीजिये। मैं आपको यथेष्ट विषय भोगों को प्रस्तुत करूँगी। ये मेरे सेवक सेविकायें सदा सतर्क होकर श्रीमान् की सेवा में सब प्रकार से समुपस्थित रहेंगे। आप इस नवद्वार की पुरी में रहकर यथेष्ट विहार करें। सब सुखों का इच्छा पूर्वक उपभोग करें। आपका कल्याण हो, संकोच की कोई बात नहीं। यह पुरी आपकी, ये सब स्त्री पुरुष आपके और यह चरणदासी भी आपकी किंकरी है। आप सैकड़ों वर्षों तक इसमें रहिये। जीवनपर्यन्त मेरी सेवा स्वीकार करते हुए इस पर अपना आधिपत्य स्थापित कीजिये।"

उस कामातुरा की ऐसी मधुर स्नेह-भरी बातें सुनकर प्रसन्नता पूर्वक कुछ संकोच के स्वर में पुरंजन कहने लगे—"मैं कृतार्थ हुआ, किन्तु एक बात और पूछना चाहता हूँ, उसे पूछने में मुझे भय लगता है।"

कुछ तुनक कर उस सुचारुहासिनी ने कहा—"फिर वही शिष्टाचार की-सी बातें। अपनों के साथ ऐसा व्यवहार करना अन्याय है। आप निःसंकोच होकर मुझे आज्ञा दें। अपने मन की बात को छिपावें नहीं। प्रेम में दुराव नहीं, छल छिद्र नहीं, छिपाव नहीं।"

कुछ रुक रुक कर पुरंजन ने कहा—"पूछना यही था कि क्या तुम मुझे प्रेम कर......

बीच में ही बात काटती हुई वह चपला बोली—"देखिये,

राजन्! ये बातें करने की नहीं। स्त्रियाँ कैसा भी गुणी पुरुष क्यों न हो, यदि उसमें ये बातें नहीं होती तो उसे मनसे त्याग देती हैं। उससे प्रेम नहीं करतीं। पहिली बात तो यह जिसे विषय भोगों के भोगने का ज्ञान न हो, दूसरी यह कि जो विहित भोगों का त्याग देता हो। तीसरी यह, जिसे लोक परलोक की चिन्ता न हो, चौथी यह कि जिसे कल क्या होगा इसका भी विचार न हो। ऐसे अविवेकी नर पशु से अच्छे स्वभाव वाली स्त्रियाँ प्रेम नहीं करतीं। देव! आप तो कामदेव से बढ़कर भी सुन्दर। विवेकी और विचारवान् हैं। भला, आपको छोड़कर मैं और किससे प्रेम कर सकती हूँ। देव आप मेरे ऊपर संदेह न करें। मुझे अपनावें, मेरा पाणिग्रहण करें। गृहस्थ धर्म का पालन करें और आनन्द पूर्वक खावें पीवें और मौज उड़ावें।"

पुरंजन ने बात को दृढ़ करने के निमित्त यों पूछ लिया—"फिर कुछ परलोक की भी चिन्ता तो करनी है। केवल गृहस्थी में ही फँसे रहना तो ठीक नहीं।"

उन चंचला चपला प्रमदा ने कहा—"परलोक, परलोक का साधन जैसा गृहस्थ में होता है, वैसा ये जटाधारी, भिखारी शुष्क हृदय वाले अकेले घूमने वाले बाबाजी क्या जानें। ये देखिये, गृहस्थाश्रम से बढ़कर कोई इस लोक तथा परलोक का साधन करने वाले आश्रम नहीं। धर्म जितना गृहस्थ कर सकता है, उतना एकाकी पुरुष कैसे कर सकेगा। धर्म तो धर्मपत्नी के बिना होता ही नहीं। अब रही अर्थ की बात, सो अर्थोपार्जन गृहस्थ ही कर सकता है। दिन भर बाहर काम करे, रात्रि में आकर चूल्हे में सिर दे, तब तो अर्थ उपार्जन हो चुका। मोल की रोटी में रसोइये के हाथ के भोजन में वह स्वाद कहाँ जो घरवाली के हाथ के बने भोजन में आता है। घर का काम घरवाली सम्हाले, बाहर से पुरुष पैदा करके उसे सौंपे तब देखिये अर्थ के साथ

सुख और सरसता का भी संचय होता चलता है। अब रही काम सुख की बात, सो इसे तो समस्त संसार जानता है, कि समस्त कामसुखों को देने वाली नारी ही है, इसलिये उसे कामिनी कहते हैं। स्त्री के शरीर में सभी शब्द, रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श इन सभी विषयों के सुख पूर्णरूप में विद्यमान हैं। फिर धर्मपत्नी के साथ का कामोपभोग सफल होता है। उसके फल स्वरूप सुन्दर सन्तानों की प्राप्ति होती है। संतानों के लालन-पालन करने में उनके निमित्त नाना दुःख सहन करने में जो सुख होता है, उसका अनुमान संतानहीन त्यागी विरागी बाबाजी क्या जानें। धर्मपत्नी के साथ ही यज्ञ याग तथा बड़े-बड़े अनुष्ठान किये जाते हैं, जिनके द्वारा इह लोक में कीर्ति और परलोक में स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है। मोक्ष मार्ग के पथिक एकाकी विचरण करने वाले इन सब सुखों से सदा वंचित हो रहते हैं। गृहस्थाश्रम सबसे बढ़कर क्यों है? इसलिये कि इसी से देवताओं को हव्य मिलता है, गृहस्थ यज्ञ न करें तो विचारे देवता भूखों ही मर जायँ, पितरों को कव्य मिलता है। गृहस्थ श्राद्धतर्पण न करे तो पितरों का उद्धार कैसे हो। ऋषियों के ज्ञान का प्रसार गृहस्थियों द्वारा ही होता है और फिर ये मूँड़ मुड़ाये, जटा बढ़ाये हाथ में खप्पर, लिये अकेले इधर से उधर स्त्रियों की बुराई करते हुए घूमते रहते हैं, यदि गृहस्थ न हों, तो इनका पेट कैसे भरे। अतिथि हैं, अभ्यागत हैं, पशु पक्षी हैं, सभी तो गृहस्थाश्रम का आश्रय लेते हैं। इसलिये देव! आप गृहस्थाश्रम में पदार्पण कीजिये, मुझे अपना चिरसंगिनी सुख-दुख की साथिनी बनाइये, मेरे हृदय पर, शरीर पर शासन कीजिये।"

स्नेह के उफान से धड़कते हुए हृदय से पुरंजन बोला—"क्या मैं इस सौभाग्य के योग्य हूँ? क्या मैं तुम्हारे अनिन्द्य सौन्दर्य के उपभोग करने का पात्र हूँ? क्या विकसित चम्पा-कलिका के

सौरभ मधुर मधु के पान करने का मैं दुर्बल भ्रमर अधिकारी हो सकता हूँ ?"

स्नेह में सराबोर अपनी दृष्टि को पुरजन की दृष्टि से घोलती हुई वह ललना बोली—"आप जैसे विश्वविख्यात उदार चित्त, प्रिय दर्शन, शूरवीर, सौन्दर्य सागर, प्रिय पति को पाकर कौन सी स्त्री अपने सौभाग्य को न सराहेगी। कौन सा प्रेम का आदर करने वाली पत्नी अपना सर्वस्व आपके पाद पद्मों में अर्पित न कर देगी। हे महाबाहो! आप जैसे महामना मनस्वी अपनी मधुमत्त मन्द मन्द मुस्कान द्वारा जिस मनोरमा को एक बार देख ले, वह अपने धैर्य को कैसे रख सकता है। आपका अपना कोई प्रयोजन है ही नहीं, हम जैसी अनाथिनियों को सनाथ करने तथा उनके मानसिक संताप को दूर करने के निमित्त ही आप पृथ्वी पर पर्यटन करते रहते हैं। आपकी गोल गोल सुडौल सर्प के समान स्निग्ध सुकोमल भुजाओं के बीच में फँसकर किस भामिनी का चित्त अन्यत्र भटकेगा। देर! अब देर करने का काम नहीं। जल्दी अग्नि जलवाओ, जल्दी से गठबन्धन कराओ। बस जहाँ सात बार चाई माई फिरी की सदा के लिये सम्बन्ध स्थापित हो गया।"

नारदजी कहते हैं— 'राजन्! बस, अब क्या था। दो मन मिल गये। फिर तो लोकाचार गौण हो जाते हैं। दोनों ने शास्त्रीय विधि से विवाह कर लिया। दोनों दूल्हा दुलहिन पति पत्नी बन गये। दो अङ्ग मिलकर एक हो गये। पुरजनी पुरजन की अर्धाङ्गिनी हो गई। अब क्या था। दोनों सुखपूर्वक रहकर आनन्द विहार करने लगे।"

### छप्पय

को अबला अस पाहि तुम्हहिँ नहिँ धीर गँमावै।
को तव हिय लगि नहीं मनोवांछित फल पावै॥
मधुर मन्द मुस्कानमयी चितवन हिय लागे।
मिटैं त्रिविध सन्ताप प्रबल रति पति भय भागे॥
भाओ अब सब दुख दुरित, दोउनि के ई मिट गये।
फँसे प्रेम के फन्द यों, पति पत्नी दोनों भये॥

# पुरञ्जन का पुरञ्जनी के साथ आनंद विहार

[ २८८ ]

क्वचिच्च शोचतीं जायामनु शोचति दीनवत् ।
अनु हृष्यति हृष्यन्त्यां मुदितामनु मोदते ॥
विप्रलब्धो महिष्यैव सर्वप्रकृतिवञ्चितः ।
नेच्छन्ननुकरोत्यज्ञः क्लैब्यात्क्रीड़ामृगो यथा ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० २५ अ० ६१ ६२ श्लोक)

छप्पय

*फँस्यो प्रेम के फन्द अन्ध सम भयो पुरञ्जन ।*
*निरखि नारि सब करें भुलाये भव भय भञ्जन ॥*
*पीवे वह तो पान करे खावे तो खावे ।*
*रोवे वह तो रुदन करे गावे तो गावे ॥*
*नारी धन की धर्म की, बनी स्वामिनी गेह की ।*
*करे मूर्ख अनुकरण यों, जैसे छाया देह की ॥*

---

* नारदजी कहते हैं— 'राजन् ! वह पुरजन अपनी पत्नी के ऐसा अधीन हो गया, कि जब वह किसी सोच मे पड जाती, तो वह भी दीन की भाँति शाकाकुल हो जाता। जब वह प्रमुदित होती तब यह भी आनन्द मनाने लगता। इस प्रकार वह पुरजन स्त्री के चगुल म फँस॰ कर अपने समीप स्त्रियो से ठगा गया। क्योंकि वह कामी था। इसीलिये इच्छा न रहने पर भी अज्ञानी के समान अपनी स्त्री का उसी प्रकार अनुकरण करने लगा, जैसे मन के लिये पाला हुआ वानर आदि पशु अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करता है।'

चोर चाहता नहीं, हमें कारावास में भेजा जाय, मछली मरने के लिये नहीं, भोजन के लोभ से काँटे में लगे मांस को निगलती है। पतगे जान बूझकर नहीं लौ के लोभ से दीपक में जल मरते हैं। हिरन फँसने के लिये नहीं, राग के वश होकर फंदे में फँस जाता है, किन्तु यह मनुष्य प्राणी ऐसा मूर्ख है कि जानकर इस नारी रूपी सर्पिणी को अपने गले में बाँध लेता है। सर्पिणी के विष से आदमी एक ही दिन मे मर जाता है, किन्तु नारी का विष तो जितना ही चढ़ता है उतना ही पागल बना देता है। मनुष्य अपने आप को भूल जाता है। उठि रे बँदरा, बैठ रे बँदरा, हाँ! जमूड़ा, ससुराल कैसे जाओगे। तो यह दो पैर का बन्दर उस कारे मूँड वाली को प्रसन्न करने के लिये कन्धे पर लाठी रखकर मटक-मटक कर चलता है। वह कहती है, यहीं बैठा रह, वहीं बैठ जाता है। वह कहती है खा तो खाता है। कैसा विचित्र बन्धन है। नित्य देखता है कि इन छम्म-छम्म करने वालियों के फंदे में फँसकर किसी ने सुख नहीं पाया फिर भी कोई मानता नहीं। विवाह के लिये ऐसे प्यासे बैठे रहते हैं, जैसे बैसाख ज्येष्ठ के पथिक आशा भरी दृष्टि से प्याऊ पर दीन हुए प्रतीक्षा मे बैठे रहते हैं। इससे बढकर मूर्खता और क्या होगी ?"

नारदजी राजा प्राचीनबर्हि से कहते हैं—"राजन्! अब पुरंजन ने उस पुरजनी से विवाहकर लिया तो मानो उसने अपनी विवेक बुद्धि को भी बेंच दिया। उसने एक दिन आज्ञा दी—"देखो जो, अब तुम इस पुरी के स्वामी हुए। शिष्टाचार से बर्ताव करना नियम का कुछ ही पालन न करोगे तो और तुम्हारी प्रजा कैसे पालन करेगी ?"

उसने दीनता के साथ कहा—"रानीजी! मैं तो मूढ़ हूँ मुझे बताओ, किस नियम से इस पुरी में रहना चाहिये। कब किस

द्वार से निकलना चाहिये। किस द्वार से निकलने पर किस नौकर को साथ लेकर जाया करूँ। यह सब मुझे समझा दो। एक बार संकेत कर देने पर फिर भूल न होगी।"

पुरंजनी ने कहा—"देखो, यह तीक्ष्ण प्रभाव वाली इस पुरी के समीप ही नदी है, स्नान करने की इच्छा हो तो इन मेरी सखी सहेलियों को संग लिये हुए यथेष्ट स्नान किया करो। गायक तुम्हारे गुणों का गायन किया करेंगे। नर्तकी नृत्य किया करेंगी। बन्दी विरुदावली बखान किया करेंगे। समझे कुछ ?"

पुरंजन बोला—"हाँ, सब समझ गया, किन्तु तुम्हारे बिना तो मैं रह न सकूँगा।"

उसने घुडक कर कहा—"मैं कहीं जाती थोड़े ही हूँ। इस पुरी में ७ ऊपर के दरवाजे हैं। जिनमें ५ पूर्व की ओर एक दक्षिण की ओर तथा एक उत्तर की ओर। दो नीचे की ओर दरवाजे हैं। इस पुरी से पूर्व की ओर विभ्राजित नाम का देश है, जब कभी तुम्हें उस देश में जाना हो, तो द्युमान नामक अपने प्रिय सेवक के साथ खद्योत और आविर्मुखी नाम के जो दो दरवाजे हैं उन्हीं से जाया करना। भला ?"

पुरंजन बोला—"बहुत अच्छा, उधर एक सौरभ नाम का भा ता देश है, उसमे जाना हो तो किस रास्ते से जाऊँ ?"

पुरंजनी बोली—"सौरभ देश को जाने के लिये जो उसके नीचे नलिनीनालिनी नामक दो द्वार हैं उनसे अवधूत सखा को संग लेकर जाया करना।"

पुरंजन ने कहा—"ये जो पूर्व के चार द्वार तुमने बताये ये तो छोटे-छोटे द्वार हैं। वह जो मुख्य प्रधान एक द्वार है, सबसे बड़ा, उसमें से किस देश में जाया करूँ ?"

पुरंजनी शीघ्रता के साथ बोली—"देखो, उस मुख्य द्वार के आगे बहूदन और आपण नामक दो प्रधान देश हैं। उनके ही द्वार

तुम्हारी इस पुरी का पालन होता है। उनमें जब जाना हो तो बहूदन मे रसज्ञ सखा को लेकर और आपण देश में विपण नामक सेवक को लेकर जाया करें।"

पुरंजन ने पूछा—"ऊपर जो ये उत्तर दक्षिण के छोटे-छोटे द्वार हैं, इनसे किन देशों में किसे साथ लेकर जाया करूँ ?"

पुरञ्जनी बोली—"देखो, दक्षिण का जो पितृहू नाम का द्वार है, उधर दक्षिण पाञ्चाल देश है, उसमें जब तुम्हें जाना हो, तो इस श्रुतधर सखा को लेकर जाया करो। इसी प्रकार उत्तर के देहू नाम के द्वार से उत्तर पाञ्चाल देश में जाना हो तो उसी श्रुतधर को साथ लेकर जायँ। किसी दूसरे के द्वारा उस द्वार से निकलने पर कार्य न चलेगा। समझे कुछ ? इन सातों के अतिरिक्त जो नीचे के दो द्वार हैं पश्चिम द्वार हैं, उनमे से एक का नाम आसुरी द्वार है दूसरे का नाम निऋति है। जब आसुरी द्वार से ग्रामक नामक देश को जाना हो, तब दुर्मद को साथ लेकर जायँ। और जब निर्ऋति द्वार से वैशस नामक देश को जाना हो तब अपने सखा सेवक लुब्धक को लेकर जाया करें। अच्छा !"

पुरंजन ने पूछा—"ये जो दो अन्धे सेवक हैं इनका क्या उपयोग है ?"

पुरंजनी हँसकर बोली—"ये ही अन्धे तो तुम्हारे सब कामों में सहायक हैं, इनके नाम निर्वाक और पेशस्कृत है। जो कुछ करना हो इन्हीं की सहायता से किया करो। जहाँ जाना हो इनके द्वारा ही जाया करो।" यह मैंने संक्षेप मे तुम्हें आने जाने के मार्ग नियम आदि बता दिये। इस पुरी मे सभी कार्यों की व्यवस्था है। तुम मेरे साथ रहकर यथेष्ट विषयों का उपभोग करो।"

नारदजी कहते हैं—"हे नरपति ! इस प्रकार पुरजन अपनी नारी को सौम्य मानकर सब कार्यों को करने लगा। जब वह अपने प्रधान मन्त्री विपूर्चीन को साथ लिये हुए अन्तःपुर में

प्रवेश करता, तो कभी किसी कार्य को देखकर उसे हर्ष होता कभी मोह में व्याप्त हो जाता, इस प्रकार वह अनेकों कार्यों मे लगा हुआ विषयों में आसक्त हो गया। उसकी स्त्री ने उसे ऐसा काठ का उल्लू बना लिया, कि वह जैसे नचाती वैसे नाचता। उस अरुण अधरवाली प्रमदा ने उसके कान मे कोई ऐसा मोहक मन्त्र फूँक दिया, कि वह सब अपनेपन को भूल गया। पालतू हरिन की तरह उसी के संकेत पर चलता। वह जो कराती करता, जहाँ बिठाती बेठता। जहाँ सुलाती वहीं सोता। जब वह सुरापान करने को कहती, तब वह कह देता पहिले इसे तुम अपने अधरामृत से पावन बना दो, पहले तुम पी लो तो प्रसाद रूप में उसे मैं ग्रहण करूँगा। वह पीती और अपने मुँह में भरकर उसके मुँह में उडेलती। सुरा के साथ अधरों का भी स्पर्श होने से वह चेतनाशून्य हो जाता। जब वह कुछ खाने को कहती तो कह देता हे मेरे हृदय की रानी! पहिले तुम भोग लगा लो तब मैं प्रसाद पाऊँगा, मैं तो तुम्हारा उच्छिष्ट भोगी हूँ। जब वह कभी गाती, तो स्वयं भी तान के साथ गाने लगता। जब वह किसी बात पर रोती, तो उसके आँसू पोंछते हुए स्वयं भी सिसक-सिसक कर रोने लगता। जब वह बोलती तो स्वयं भी बोलता, जब वह हँसती तो स्वयं भी खिल-खिलाकर हँस पड़ता। कभी-कभी वह विनोद में दौडती तो जैसे पालतू कुत्ता अपने स्वामी के साथ दौडता है—उसी प्रकार यह भी उसके पीछे-पीछे दौडता। जब वह ठहर जाती तो यह भी ठहर जाता, वह बैठती तो यह भी बैठ जाता। वह लेटती तो स्वयं भी लेट जाता, वह उठती तो स्वय भी उठकर उसके वस्त्रों को झाडकर उसकी सिकुडन ठीक करने लगता। कभी वह किसी गायन को सुनती तो स्वयं भी ध्यान लगाकर सुनने लगता। किसी वस्तु को देखती, तो स्वयं भी टकटकी लगाकर उसे देखने लगता। किसी ने कोई सुगन्धित

पुष्प लाकर दिया तो उसकी नाक के पास ले जाकर कहता हृदयेश्वरी ! इसे सूँघ लो, कैसा सुगन्धित पुष्प है।" वह कहती तुम्हीं सूँघो। कहता—"ना, यह कैसे हो सकता है। पहिले अपनी इष्ट देवी को अर्पण करके उसके निर्माल्य को ही मैं उपयोग में ला सकता हूँ। पहिले तुम इसे सूँघ लो तब तुम्हारी नाक में नाक लगाकर मैं भी सूँघूगा, कभी कोई सुखद स्पर्श आता तो उसके साथ ही उसको स्पर्श करता।"

पुरजनी कभी किसी बात पर शोकाकुल होती तो स्वय भी मुँह लटकाकर उसके समीप बैठकर दुःख की मुद्रा बनाता और बार-बार दीनता दिखाता हुआ उसके शोकयुक्त आनन को निह रता रहता। जब वह शोक त्यागकर प्रसन्न हो जाती तो स्वय भी खिल खिलाकर हँस पड़ता। जब यह कभी आनन्दातिरेक में हँसने लगती, उत्सव मानने लगती, तो आप भी थिरक थिरक कर नाचता, प्रसन्न होता, आनन्द विभोर होकर प्रेम में मग्न हो जाता।

नारदजी कहते हैं—"हे प्राचीनबर्हि राजन ! मैं आपको कहाँ तक बताऊँ, उस कार मूड वाली बिना दाढी मूँछ की नारी रूपी भीलिनी ने उसे अपने जाल में फँसकर ऐसा वश में कर लिया कि उसके बिना सकेत पाये कुछ भी करने मे वह समर्थ नहीं था। वह उसके सकेत पर ही सब कराता। अब न उसे अपना ध्यान था न पराये का। उसका धर्म, कर्म पूजा पाठ सब वही पुरजनी थी। उसी की पूजा करता, उसी का ध्यान धरता, उसी का गुणगान करता। उसी का उच्छिष्ट प्रसाद पाता, उसी के चरणों में लोटा रहता। उसी के नाम का कीर्तन करता, उसी के गुणों का चरित्रों का श्रवण करता, सर्वदा उसी के सुन्दरस्वरूप का मनन करता रहता। अधिक क्या कहें वह उसी में तन्मय हो गया। उसी का रूप बन गया। मनुष्य जैसे विचार करता

है, वैसे ही वह बन जाता है। भाव ही भव का कारण है हमारे मानसिक विचार ही हमारे भाग्य निर्माण के कारण है। पुरजनी को सोचते-सोचते पुरजन उसी के भाव में भावित हो गया।"

### छप्पय

*तन की कोमल दिखे भीलिनी भोरी भारी।*
*किन्तु चित्त की कुटिल बनी ज्यों लट घुँघराली॥*
*रूप पाश ले हाथ पशुनि कूँ तुरत फँसावे।*
*निज वश करिके विविध भाँति क खेल खिलावे॥*
*पूँछ हिलावत फिरत ज्यों, स्वान स्वामि के सङ्ग में।*
*त्यों मदमातो फिरे नर, फँस्यो नारि के अङ्ग में॥*

# पुरञ्जन का मृगया प्रेम

[ २८६ ]

चचार मृगयां तत्र दृप्त आत्तेषुकार्मुकः ।
विहाय जायामतदर्हां मृगव्यसनलालसः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० २६ अ० ४ श्लो०)

छप्पय

यद्यपि जाया सङ्ग त्यागिबो अति दुखकारी ।
तोऊ रथ चढ़ि चल्यो पुरञ्जन बन धनुधारी ॥
मृगया लोभी भयो गयो वर बहु मृग मारे ।
सूकर, स्याहीं, सिंह, शशक, शावक सहारे ॥
मनमाने मारे मृगा, मृगया मतवारो भयो ।
भूख प्यास तें थकित ह्वै, लौटि नगर निज नृप गयो ॥

जो योगी हैं, जिन्होंने समत्व प्राप्त कर लिया है, जो साम्य के सिद्धान्त को सम्यक प्रकार से समझ गये हैं, उनकी बात तो छोड़ दीजिये। सर्व साधारण लोगों की वृत्ति एक सी नहीं करती। कभी हृदय में प्रेम के, दया के, मैत्री के भाव उठते हैं, तो कभी क्रूरता के, हिंसा के, दूसरों को दुःख देने के भावों का प्राबल्य हो

* नारदजी कहते हैं—"राजन् ! वह पुरजन अपनी प्रिय पुरजनी जिसको क्षणभर भी छोड़ना कठिन था, उसे छोड़कर अत्यन्त घमण्ड के साथ हाथ में धनुष बाण लेकर बड़ी उत्सुकता से मृगया के निमित्त बन में गया।"

जाता है। इसी का नाम है मतिवैषम्य। जब चित्त में प्रेम का उफान उठता है, तो हृदय किसी के लिये छटपटाता है। प्रिय मिलन की आकांक्षा हृदय में सिहरन और गुदगुदी पैदा करने वाली होती है। इसके विपरीत जब हृदय में हिंसा जागृत होती है, तब मारने काटने में दूसरों को दुःख पहुँचाने में कुछ भी कष्ट नहीं होता। यही नहीं उसी समय उसी क्रूरता में एक प्रकार का आनन्द आता है। स्वच्छ वस्त्र के समान निर्मल इस हृदय पर जैसा रङ्ग चढ़ जाता है, वैसा ही उसका रङ्ग हो जाता है। कोई हलका और कच्चा रङ्ग होता है, जो धोते ही साफ हो जाता है। कोई पक्का और स्थायी रङ्ग होता है, वह तो जो चढा सो चढ़ गया जीवन पर्यन्त नहीं छूटता। साधारणतया क्षण-क्षण मे रङ्गों में कुछ न कुछ परिवर्तन होता ही रहता है वह हमें दिखाई नहीं देता है, दिखाई वह देता है, जो गहरा और अपेक्षा कृत साधारण परिवर्तन शील रङ्गों से स्थायी हो।"

महाराज प्राचीनवर्हि से नारदजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार पुरंजन अपनी पुरजनी के अधीन होकर उसका क्रीडामृग बन गया था। एक दिन उसके चित्त मे आई–चलो, वन मे चल कर मृगया करें, किन्तु वन को जाते हैं, तो अपनी चिरसंगिनी का साथ छोडना पडता है, यह तो कठिन है। फिर भी चित्त में रह-रहकर मृगया की इच्छा उठने लगी। आज पुरंजनी से अधिक आकर्षण मृगया में दिखाई देने लगा। अतः उसने मृगया के निमित्त घोर वन में जाना निश्चय ही कर लिया। उसने सोचा—"मैं यदि रानी से पूछूँगा, तो सम्भव है वह मना कर दे। मेरा मनोरथ विफल हो जाय, अतः वह बिना पूछे ही चल दिया।"

महाराज प्राचीनवर्हि ने पूछा—"भगवन्! क्या पुरंजन पैदल ही अकेला मृगया के निमित्त गया।"

नारदजी ने कहा—"नहीं, राजन्! राजा होकर पैदल कैसे जायगा। बड़े सुन्दर दिव्य रथ पर चढ़कर वह चला था। उसके दिव्य रथ में बड़े प्रबल किसी से भी न रुकने वाले ५ घोड़े जुते हुए थे। उस रथ मे दो दण्डिका, दो पहिये, एक धुरी, तीन बाँस, पाँच बन्धन, एक डोरी, एक वैठने का स्थान, दो जूए, पाँच शस्त्र, सात परदे लगे हुए थे। वह रथ सुवर्ण के आभूषणों से सुसज्जित था, पाँच प्रकार की टेढ़ी-मेढ़ी गतियों से वह चलने वाला था। उसी महान शीघ्रगामी रथ पर चढ़कर वह प्रस्थप्रस्थ नामक वन की ओर चला। आपने पूछा था, क्या पुरंजन अकेला ही गया। हे राजन्! भूपति कहीं अकेले ही थोड़े जाते हैं। सेना साथ न भी ले जायँ, तो भी कुछ मुख्य-मुख्य मन्त्री सेनापति तो साथ जाते ही हैं। इसीलिये १० सैनिक और उन सबका ग्यारहवाँ परम प्रबल सेनापति उसके साथ था। स्वयं पुरंजन ने सुवर्णमय दिव्य कवच धारण कर रखा था। शत्रु विजयी महान धनुप और अक्षय तूणीर उसने अपने स्वयं साथ ले लिये थे। इस प्रकार वह बन ठनकर, सज-बजकर अपने साथियों सहित मद में चूर हुआ, आसुरी वृत्ति के आधीन होकर मृगया के निमित्त चला। हर्ष से धनुप की डोरी चढ़ाकर जय घोप करके उसने दिशाओं को गुञ्जारित कर दिया। आज वह निर्दय चित्त बनकर पशुओं के ऊपर तीखे-तीखे वाण छोड रहा था। आज वह हिंसक, क्रूर-कर्मा हत्यारे के समान हो रहा था।"

इस पर महाराज प्राचीनवर्हि ने पूछा—"भगवन्! मृगया करना तो राजाओं का धर्म है, हिंसक जन्तुओं का वध करना तो भूपति के लिये विहित है। फिर आप राजा पुरंजन को क्रूरकर्मा हत्यारे के समान क्यों वता रहे हैं।"

यह सुनकर नारदजी राजा की वात का समर्थन करते हुए कहने लगे—"राजन्! यह ठीक है। प्रचीन सभी बड़े-बड़े राजा

मृगया करते थे। राजाओं के लिये मृगया निषेध नहीं है, किन्तु उसके नियम बताये हैं। उन नियमों के भीतर रहकर ही राजाओं को मृगया करनी चाहिये। मृगया करना आवश्यक या विधान नहीं है। यह राजा के ६ व्यसनों म से एक व्यसन है। यदि मृगया करनी ही हो तो नियमानुसार करे।"

राजा ने पूछा "भगवन्! वे कौन कौन से नियम हैं ?"

देवर्षि नारद बोले—"देखिये, राजन्! यदि पशु हिंसा करनी ही हो, तो श्राद्धादि के ही अवसर पर करें। एक ओर से जो भी पशु सामने आ जाय, उन्हें ही न मार दे। जो मेध्य पशु बताये गये हैं, उन्हीं को मारे। केवल शास्त्र प्रदर्शित श्राद्धादि के समय ही आवश्यकता होने पर मारे और उतने ही पशुओं को मार जितनों से अपना कार्य चल सकता हो। वर्जनीय पशुओं को न मारे, असमर्थ में न मारे अधिक न मारे। इन सब नियमों का पालन करते हुए जो विद्वान् कर्म तत्व को समझ कर निष्कामभाव से कर्मों का आचरण करता है, वह उन कर्तव्य कर्मों को करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता।"

महाराज प्राचीनबर्हि ने पूछा—"भगवन्! जब हिंसा सर्वथा पाप ही है, तो शास्त्रों ने ऐसे नियम क्यों बनाये ?"

यह सुनकर हसते हुए नारदजी बोले—"राजन्! बात यह है। शास्त्रकार समझते हैं, कि स्वाभाविक प्रवृत्ति को एक साथ रोका नहीं जाता, उसे ऐसे नियमों में बाँधो कि मनुष्य कठिनता से करे। जैसे मनुष्य जहाँ से उत्पन्न होता है, उसे अपने जन्म स्थान की ओर अनुराग होना स्वाभाविक है। लोक में मास, मदिरा, मैथुन आदि की ओर प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है। जो इनसे सर्वथा बचे हुए हैं, वे तो धन्य हैं, मोक्ष मार्ग के अधिकारी हैं, किन्तु जो इनसे सर्वथा बच नहीं सकते उनके लिये ये नियम हैं, कि ऋतुकाल में ही अपनी ही भार्या के समीप पुत्र कामना

से ही जाना चाहिये। इन नियमों का तात्पर्य इन कर्मों में प्रवृत्त करना नहीं हैं, किन्तु इनको निवृत्त में लगाना ही तात्पर्य है। शास्त्रकारों का उद्देश्य नियमन करके इनके त्याग से ही अभिप्राय है।"

प्राचीनवर्हि ने कहा—"हाँ, भगवन! ठीक है। अच्छा तो पुरंजन ने आगे क्या किया, उसे सुनाइये।"

नारदजी बोले "राजन्! पुरंजन के सिर पर मृगया का भूत सवार था, उसने सभी नियम तथा शास्त्रीय आज्ञाओं का त्याग कर दिया। सामने जो भी पशु आ जाता, उसे ही अपने तीक्ष्ण वाणों से मार डालता। इस प्रकार उसने सिंह, व्याघ्र चीते, भैंसे, हिरन, शशक सेकड़ों हजारों जंगली जीवों को मृत्यु के घाट पहुँचा दिया, अपने तीक्ष्ण वाणों द्वारा उनका अन्त कर दिया।"

वह प्रातःकाल से ही चला था। संग मे कुछ भोजन सामग्री भी नहीं थी। दिन भर दौड़ते-दौड़ते मृगया करते-करते वह थक गया। भूख प्यास ने उसको तथा उसके दश साथियों को शिथिल कर दिया। सभी परिश्रम से थककर विश्राम करने लगे। पुरञ्जन ने देखा अब परिश्रम होना असम्भव है, अतः उसने अपने सेवकों को लौटने की आज्ञा दी। सेवक तो सब यह चाहते ही थे। आज्ञा पाते ही सब लौट पड़े। पुरंजन सभी को साथ लिये हुए अपनी पुरी में आ गया। आकर उसने तैल मर्दन कराया, विधिवत् स्नान किया। विविध भाँति तेल फुलेल लगाये। भर पेट भोजन किया। भोजन करने के अनन्तर कुछ विश्राम करके इन्द्रियो में चैतन्यता आई, अब उसे अपनी पुरंजनी की याद आई। राजन्! जब मनुष्य का पेट भर जाता है, तभी उसे अन्य विषयों की बातें सूझती हैं। भूखे प्यासे पुरुष को कितना ही इत्र सुँघाइये, कितने भी गुदगुदे गद्दे पर सुलाइये, कितने भी सुखद स्पर्श पदार्थ छुआइये, कितनी भी सुन्दर से सुन्दर प्रमदायें

खाइये, उसका चित्त तो भूख प्यास में ही फसा रहेगा। जहाँ पेट में रोटी पडी नहीं कि भाँति-भाँति की इच्छायें उत्पन्न होती हैं। पुरंजन भी जव खा पीकर थकान मिटाकर स्वस्थ हुआ, तो अपनी प्रियतमा की खोज करने लगा। सबसे पहले वह उसी भवन में गया। जहाँ पुरंजनी विश्राम करती थी। वहाँ जाकर उसने देखा उसकी शैया सूनी पडी है। अब तो पुरंजन का माथा ठनका। बडे चाव से वह गन्ध, चन्दन, माला, वस्त्र, आभूषण आदि से सुसज्जित होकर अपनी प्रियतमा से मिलने आया था। उस समय भोजन आदि से तृप्त हुआ मिलन की अभिलाषा से उल्लसित होकर मदोन्मत्त वह काम के अधीन हुआ अपनी क्षीण कटिवाली, घर की उजियाली प्यारी पत्नी को न देखने के कारण व्याकुल हुआ। उदास और चिन्तित होकर उसने अन्तःपुर की सेविकाओं से पूछा—"क्यों री रमणियों! आज तुम्हारी स्वामिनी दिखाई नहीं देतीं हैं। वे कहाँ चली गईं? मुझे आने में कुछ देर हो गई। कहो, और सब तो कुशल है न?"

स्त्रियों ने कहा—"प्रभो! सब कुशल ही है। पुरंजन ने अधीर होकर कहा—"कुशल कहाँ है, आज मैं देखता हूँ, घर का सब समान अस्त व्यस्त पडा है, आज पहिली जैसी शोभा नहीं, सजावट नहीं। इन ईंट पत्थर के घरों में रखा ही क्या है, यदि घर में स्नेहमयी माता न हो अथवा पति परायणा प्रेम की साकार मूर्ति, सुखों की खानि प्रिया पत्नी न हो तो घर में और श्मशान में अन्तर ही क्या है। रथ की धुरी ही टूट जाय एक पहिया ही निकल जाय, तो वह किस काम का? अतः तुम अति शीघ्र अपनी स्वामिनी के मुझे दर्शन कराओ। जो दुःख समुद्र में डूबते हुए मुझे पग पग पर विवेक पूर्ण उपदेश देकर उबारती रहती थी, उस सर्व संकटों से छुडाने वाली मेरी प्राणप्रिया से मुझे मिला दो, मेरी मनोकामना पूर्ण कर दो। मैं अत्यन्त अधीर हो रहा हूँ।"

पुरंजन के ऐसे स्नेहयुक्त दीन वचन सुनकर सेविकाओं ने कहा—"प्रभो ! हम समझ नहीं सकते, आज क्या कारण है। स्वामिनी जी का चित्त न जाने कैसा हो गया है। आज उन्होंने अन्य दिनों की भाँति न तो स्नान ही किया, न उबटन ही लगाया चरणों में महावर भी नहीं लगवाया। आँखों में अंजन भी नहीं आंजा। यहाँ तक कि कोई भी शृङ्गार उन्होने नहीं किया। न वस्त्राभूषणों से अपने श्रीअंग को विभूषित ही किया। शैया का भी आज उन्होंने परित्याग कर दिया है। बिना बिस्तरा की भूमि पर उदास होकर लोट रहीं हैं। कुछ पूछने पर उत्तर नहीं देतीं। बहुत पूछों तो तुनक उठती हैं। क्यों उनकी ऐसी दशा हो गई है, इसका कारण हम नहीं जानती।"

नारदजी कहते हैं—"राजन् ! कामी पुरुष सब कुछ सहन करते सकते हैं, किन्तु वे अपनी प्रियतमा के क्रोध को कहन करने में सर्वथा असमर्थ होते हैं। वे उसकी क्रोधमयी मूर्ति को देखकर डर जाते हैं। उस समय उनका चित्त प्रतिक्षण धक-धक करता रहता है। साम, दाम, दण्ड, भेद, अनुनय, विनय सभी उपायों से उसे प्रसन्न करने को चेष्टा करते हैं। यह कैसी काम की कुत्सित क्रीड़ा है। जो पुरुष बाहर बड़े-बड़े क्रोधित सिंहो को हाथ से पकड़ कर चीर सकता है, वही क्रोधित हुई पत्नी के सम्मुख पानी-पानी हो जाता है और उसके पाद प्रहार को बड़ी प्रसन्नता से अपना अहोभाग्य समझकर सहन करता है। और पालतू कुत्ते की तरह पूँछ हिलाकर पेट दिखाकर उसके अंगों को सहराकर मनाने की चेष्टा करता है। सो महाराज, पुरंजन भी अपनी प्रिया के कोप की बात सुनकर हक्का-बक्का सा हो गया और डरते-डरते उसी भवन की ओर चला जहाँ वह क्रोधित सर्पिणी खटपाटी लेकर बिना बिस्तरे के पड़ी लम्बी-लम्बी फुफकार छोड़ रही थी।"

### छप्पय

न्हाय खाय विश्राम कर्यो दारा सुधि आई।
कामवाण ते व्यथित चल्यो नहिँ दई दिखाई॥
अन्तःपुर की नारि निरखि पूछे पछितावे।
स्वामिनि तुम्हरी कहाँ महल में नाहिँ दिखावे॥
रमणी बोलीं— नृपवर! आज स्वामिनी रिष भरीं।
असन बसन भूषन तजे, खटपाटी लेके परीं॥

---

# पुरञ्जन का मानिनी पत्नी को मनाना

[ २६० ]

सा त्वं मुखं सुदति सुभ्र्वनुरागभार-
व्रीडाविलम्बविलसद्धसितावलोकम् ।
नीलालकालिभिरुपस्कृतमुन्नसं नः
स्वानां प्रदर्शय मनस्विनि वल्गुवाक्यम् ॥*
(श्रीभा० ४ स्क० २६ अ० २३ श्लोक)

छप्पय

*सुनत विकल अति भयो गयो महिषी जहँ सोवे ।*
*अस्त व्यस्त सी परी पुरंजन पग परि रोवे ॥*
*अपराधी हौं सदा उचित शिक्षा अब दीजे ।*
*देहु दास कूँ दण्ड क्षमा स्वामिनि अब कीजे ॥*
*तिलक हीन अति म्लान मुख, मुरझायो अरविन्द जस ।*
*राग रहित सुन्दर अधर, फटत हृदय लखि दशा अस ॥*

---

* नारदजी कहते हैं—"राजन ! अपनी प्रणय कुपिता पत्नी को मनाता हुआ पुरजन उससे कहन लगा—"हे सुन्दर भौंहो वाली ! हे मनोहर दाँतों वाली ! हे मनस्विनी ! देखो, मैं तुम्हारा अनुचर हूँ, अतः प्रणयभार और लज्जा से अवनत मधुर मुस्कानमयी चितवन से युक्त और नीली-नीली अलकावली से घिरे हुए, तथा उन्नत नासिका से सुशोभित अपने मनोहर मुखारविन्द के दर्शन मुझे करा दो। हे इष्ट देवि ! दीन को दर्शन दो।"

मान स्नेह की खराद है। मान से नेह उज्वल हो जाता है। प्रणय कोप प्रेम में नूतनता का संचार करता है। चटनी मधुरता के स्वाद को बढ़ाती है। बीच में तीता चटपटा खाते रहने से मीठा अधिक खाया जाता है। बीच में अदरक, मिरच, चटनी का संपुट न लगे, तो मीठा खाते खाते चित्त ऊब जाता है। जिस प्रेम में प्रणय कोप नहीं जिसमें अनुनय, विनय कहा सुनी, रूठना मनाना नहीं वह शुष्क प्रेम है। वह मधुर भोजन नहीं पेट भरने के सूखे सत्तू हैं, जिन्हें फाँक कर पानी पी लो गड्ढे को भर लो। प्रेम तो प्रणय कोप से निखरता रहता है। जैसे जग लगे शस्त्र खटाई के मलने से, तेल के चुपड़ने से चमकने लगते हैं।

नारदजी कहते हैं—"राजन् अपनी पत्नी को कोप भवन में श्रवण करके पुरंजन के पैरों के तले की पृथ्वी खसक गई। वह किंकर्तव्यविमूढ बना उसी ओर दौड़ा। उसने देखा मेरी प्राणेश्वरी आज पृथ्वी पर अस्त व्यस्त भाव से पड़ी है। उसका मन्द-मन्द मुसकान वाला मधुर मुख मलिन हो रहा है, वह क्रुद्ध सर्पिनी के समान लम्बी लम्बी साँसें ले रही है। कुटिल अलकावली खुली इधर-उधर बिखर रही है। उसकी ऐसी दशा देखकर दुःख से अत्यन्त व्याकुल हुआ वह कामी दौड़कर उसके पैरों के पास पहुँचा। उसका हृदय धड़क रहा था, चित्त चञ्चल हो रहा था, विवेक नष्ट-सा हो चला था, बहुत विचार करने पर भी वह निर्णय न कर सका कि उसकी प्रियतमा के प्रणय कोप का कारण कौन-सा है। किस कारण वह व्यथित बनी हुई है। कुछ भी हो उसे मनाना तो है ही। यही सोचकर पहिले उसने अपना मुकुट से युक्त सिर उसके चरणों में रखा। फिर कमल के भीतरी दल के समान उसके दोनों अरुण चरणों को अपनी गोद

में रखकर शनैः-शनैः सुहराता हुआ वह बड़ी ही दीनता भरी वाणी में बोला।

पुरंजन अपनी प्रेयसी को मनाते हुए कहने लगा—"हे हृदयेश्वरि! मैं यह तो कभी कल्पना ही नहीं कर सकता कि मेरे बिना किसी अपराध के तुम इतनी दुखी होगी। अवश्य ही मैंने कोई घोर अपराध किया होगा, जिसके कारण तुम मुझ पर इतनी क्रुद्ध हो। सेवकों से अपराध बन ही जाता है। किन्तु स्वामी का यह कर्त्तव्य कभी नहीं है, कि सेवक के अपराधों को बिना जताये ही मन ही मन उस पर कुपित होता रहे। यह तो अपनेपन के विरुद्ध है। जो अपने आश्रित हैं, प्रति पालित हैं, उनके अपराधों को बताकर उन्हें उचित दंड देना यही स्वामियों का सदाचार है। तुम मेरे शरीर को, हृदय की, सर्वस्व की स्वामिनी हो। मैं तुम्हारा भृत्य, सेवक, दास, और अनुचर हूँ। मेरे अपराध को बताओ और जो भी उचित दंड समझती हो वह मुझे दो। स्वामी से दंड पाना यह तो सेवक के परम सौभाग्य की बात है। वे सेवक मन्द भागी हैं, जिनको स्वामी अपना मानकर दण्ड नहीं देते। सेवक के अपराध पर स्वामी का दंड देना यह तो परम अनुग्रह है। सेवक को उसे सहर्ष सहन करना चाहिये उसे अपने अभ्युदय का चिन्ह समझना चाहिये।"

इतना सुनते ही पुरंजनी और भी अधिक तुनक गई। उसने मारे क्रोध के अपने पैरों को पुरंजन की गोदी से खींचकर एक अँगड़ाई ली और वस्त्र से अपना मुख ढक दिया। इस पर उसे गोदी में उठाते हुए रोष से दुखरी सी हुई उसे मनाते हुए अधीरता के स्वर में पुरंजन कहने लगा—"देखो, देवि! यह बात अच्छी नहीं है। इन दांतों को तुम दोनों ओठों के बीच में निर्दयता से क्यों दबा रही हो। इनके दबने से इस घर में ही अन्धकार नहीं छाया हुआ है, किन्तु मेरा हृदय भी अन्धकारमय हो रहा

है। इन्हें तनिक खुलने दो, प्रकाश फैलने दो, इस मधुर मुस्कानमयी चितवन से युक्त मनोहर मुखारविन्द को खिलने दो। इसे तुमने वस्त्र से ढक क्यों रखा है। इस झीने परदे को हटाओ, मुझे अपने मुखारविन्द के दर्शन कराओ। कमान के समान इन कुटिल भौंहों के निर्वज़ों के ऊपर क्यों ताने हुए हो। इन्हें तनिक ढीली छोड़ दो। इस शुक समान नुकीली नासिका को बार-बार फुला-फुलाकर तुम ये उष्ण साँस क्यों छोड रही हो। इसमें शीतलता का संचार होने दो। काली-काली घुँघराली लटकती लटों को तुमने अस्त-व्यस्त क्यों छोड़ रखा है। तनिक उठकर बैठ जाओ। इन्हें मैं समेटकर बाँध दूँ, इनमें मालती पारिजात के सुगन्धित दिव्य पुष्प खोस दूँ। मेरे साथ इतना अन्याय क्यों कर रही हो?"

नारदजी कहते हैं—"राजन्! इतना कहकर पुरंजन ने रूठी हुई अपनी पत्नी की ठोढी को ऊपर उठाया। किन्तु उसने बड़े वेग से पुरजन का हाथ झटक दिया। तब वह बोला—"देखो, यह तो हमारे ऊपर बड़ा अन्याय हो रहा है। यदि मुझसे कोई अपराध बन गया है, तब तो मैं अपने सिर को तुम्हारे चरणों में रखकर क्षमा माँग रहा हूँ और दण्ड पाने के लिये प्रार्थना कर रहा हूँ। यदि किसी दूसरे ने तुम्हारा अपकार किया हो, तो उसका नाम भर मुझे बता दो। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। उसका सिर धड़ पर रह नहीं सकता। या जो भी तुम उचित दण्ड कहो वही उसे तुरन्त दिया जाय। हाँ एक बात है, किसी वेदज्ञ से, किसी अच्युत गोत्रीय साधु सन्त से यदि भूल में तुम्हारा कोई अपराध बन गया हो, तो उसे मैं शारीरिक दण्ड नहीं दे सकता। उसे देश से पृथक कर दूँगा। देश निकाला दे दूँगा। तुम कुछ बताओ भी तो सही। इस त्रिलोकी

के बाहर भीतर जो भी कोई तुम्हारा अपराधी होगा वही यथेष्ट दण्ड पावेगा।"

इतना कहकर पुरंजन ने अपनी प्रियतमा भार्या को गोद में उठा लिया। उसके मुख से वस्त्र हटा दिया। उसने अपनी गरदन इतनी शिथिल कर दी, कि उसका मुख मृतक के समान पुरजन के अङ्ग पर लुढ़क गया। जिस मुख पर सदा मन्द-मन्द मुसकान छिटकती रहती थी, जो सदा कमल के समान खिला रहता था, उसे आज ऐसी दशा में देखकर पुरजन का रहा सहा धैर्य भी छूट गया। वह अत्यन्त दीनता के साथ कातर वाणी में कहने लगा—"देखो, तुम व्यर्थ मेरे मन को पीड़ा पहुँचा रही हो। आज तक मैंने तुम्हारी ऐसी दशा कभी भी नहीं देखी। तुम्हारे मुखारविन्द को मैंने कभी भी स्नेह शून्य, कान्तिहीन, हर्ष से रहित, मोह से म्लान मन्द-मन्द मुस्कान और तिलक से शून्य नहीं देखा था। तुम्हारे श्रीफल के समान पयोधरों को कभी मुरझाये कुंकुम के रहित शोकाश्रुओं से भीगे नहीं देखे थे। इन बिम्बाफल के समान बन्धूक पुष्प की कलिका के समान अश्वत्थ के नवीन पल्लव के समान, रक्त पाटल के दो दलों के समान अधरों को आज तक मैंने कुंकुम राग और पान की लाली से रहित कभी नहीं देखा था। आज यह अभूत पूर्व रूप मुझे क्यों दिखा रही हो। जो सदा सौम्य और सरस ही दिखाई देता था उस शारदीय चन्द्र के समान मुखारविन्द को राहुग्रसित शशि के सदृश क्रोध के कारण अत्यन्त भयानक क्यों बनाये हुए हो। प्रिये! सेवकों पर इतना अत्याचार उचित नहीं। अब हुआ सो हुआ।"

इतना सुनते ही पुरंजनी कुछ मुसकरा गई। नारदजी कहते हैं—'राजन्! इन स्त्री, पुरुषों का प्रणय कोप कागज से बने सर्प के समान व्यर्थ का ही होता है। उसमें कुछ सार नहीं, कोई

तत्त्व नहीं। देखने में तो रुई के ढेर के समान बड़ा भारी दीखता है। जहाँ तनिक सी चिनगारी लगी क्षण भर में सब स्वाहा। दूसरा कोई देखे तो डर जाय, न जाने कितना भीषण मामला है, किन्तु जहाँ बातों ही बातों में हँसी आ गई। कपूर के समान सभी रोप उड़ गया। फिर न रोप, न कोप, वही प्रेम की बतो ड़ियाँ वे ही स्नेह में सनी बात, वे ही घुल घुलकर अनुराग की कहानियाँ। बच्चे खेल-खेल में बालू की भीत बनाते हैं उसे हाथ से चिकना करते हैं, दूर से देखने से प्रतीत होती है बड़ी दृढ़ होगी, किन्तु जहाँ तनिक सी ठेस लगी कि बालू की बालू। माता अपने बच्चे पर बड़ा कोप करती है, उसे डाँटती है, मारती है, किन्तु जहाँ कोई अच्छी वस्तु खाने को आई, भट गोद में बिठा लेती है। अपने अञ्चल से आँसू पोंछ देती है। उसके हाथ मे मिठाइ देती है। मुँह चूम लेती है और कहती है, देखना, अब उपद्रव मत करना। ले खाले। बस, झगड़ा टटा समाप्त। जिस समय क्रोध में भरकर छड़ी लेकर मार रही हो, उस समय दूसरे देखने वालों को यही प्रतीत होगा कि यह बच्चे को मार ही डालेगी। किन्तु क्षणभर में ही मामला बदल जाता है। दो बच्चे अपनी अपनी कन्नी उँगलियों को मिलाकर मित्रता जोड़ते हैं। एक पूछता है "कूआ में क्या ?" दूसरा कहता है 'पान सुपरी।' फिर वह कहता है 'मेरी तेरी बारह बरष की यारई।' फिर पूछता है कूआ में क्या ?' दूसरा कहता है 'चबेना' फिर वह कहता है 'यार मागे सोई देना' इतना कहकर दोनों उँगलियों को चूम लेते हैं। मित्रता हो गई। क्षण भर में ही लड़ने लगते हैं। गालियाँ देते हैं, ईंट पत्थर चलाते हैं और मित्रता तोड़ते हुए कहते हैं 'जीभ मराडूँ नाढ को तोडूँ, ऐसे यार तें कभी न बोलूँ यारई छुट्ट छुट्ट छुट्ट' बस छुट्ट हो गई। क्षण भर बाद फिर आपस में मिल जाते हैं। ऐसा ही प्रणय कोप इन स्त्री

पुरुषों का पति पत्नियों का होता है।

अपनी प्रिया को मुस्कराते देखकर पुरंजन के प्राणों में प्राण आये, वह प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहने लगा—"ओहो! अब मैं समझा। मैं तुमसे बिना ही पूछे मृगया के निमित्त चला गया था। मेरे पीछे उस दुष्ट मन्मथ ने तुम्हें एकाकी समझकर पीडित किया होगा। उसकी व्यथा से व्यथित होकर तुम उदास हो गई होगी। अच्छी बात है, मेरे अपराध को क्षमा करो, अब आगे से ऐसी भूल कभी न करूँगा। अब तुम मेरे ऊपर प्रसन्न हो जाओ। उस दुष्ट पञ्चशर ने मुझे भी घायल कर दिया है। अब रोष को बिसार दो और स्नेहभरी दृष्टि से देखकर मुझे कृतार्थ कर दो।"

नारदजी कहते हैं—"राजन्! ऐसा कहने पर उस मानिनी ने ऐसे हाव भाव कटाक्षों से पुरंजन की ओर देखा कि वह पालतू कुत्ते की तरह उसके अधीन होकर उसके वश में हो गया और नाना प्रकार की चेष्टाओं से उसे आनन्दित करने लगा। वह भी अपने प्रेष्ठतम के साथ रमण करते हुए रात्रि और दिनों को क्षण के समान बिताने लगी।

### छप्पय

*अब ही समुझ्यो प्रिये! पञ्चशर अवसर पायो।*
*जानि अकेली तुम्हें दुष्ट ने अधिक सतायो॥*
*पति अनुनय अस सुनत मानिनी मृदु मुसकाई।*
*प्रणय कोप तत्काल प्रिया को गयो बिलाई॥*
*पति पत्नी के प्रेम कूँ, प्रणय कोप उज्ज्वल करत।*
*वह मुँह फेरे तुनुक के, यह पुनि पुनि पगमहँ परत॥*

# पत्नी तथा परिवार में आसक्त हुआ पुरंजन

[ २६१ ]

शयान उन्नद्धमदो महामना
महार्हतल्पे महिषीभुजोपधिः ।
तामेव वीरो मनुते परं यत—
स्तमोऽभिभूतो न निजं परं च यत् ॥*
(श्री भा० ४ स्क० २७ अ० ४ श्लो०)

छप्पय

*दृढ़ आलिङ्गन करत पुरंजन अति हर्षावत ।*
*तजि निज पर को ज्ञान राति दिन व्यर्थ गमावत ॥*
*बाहु पाश महँ करयो अज्ञ सो भयो विचारो ।*
*सूझत नहिँ कब दिवस भयो कब भयो अँध्यारो ॥*
*फँस्यो पुरंजन मोह महँ, सरबसु समुझी कामिनी ।*
*गई युवा लौटी न वय, जैसे बीती यामिनी ॥*

प्रातःकाल हुआ, प्राची दिशि में भगवान् भुवन भास्कर हँसते हुए अँगड़ाते हुए निशा देवी की लाल रङ्ग की साड़ी में से

---

* नारदजी कहते हैं—राजन् ! वह महामना पुरंजन महामूल्यवान् शैया पर अपनी प्रिया की बाहु का तकिया लगाये पड़ा रहता । मद से मदोन्मत्त हुआ वह वीर इसी को परम पुरुषार्थ समझे बैठा था । उसे अज्ञान ने ऐसा आवृत कर रखा था कि अपने और परब्रह्म के स्वरूप को भूल चुका था । उसे किसी का कुछ पता ही न था ।"

मुँह चमकाते हैं। लज्जा से सिकुड़ी और पति को प्रबुद्ध समझ कर निशा रानी लजाती सकुचाती भाग जाती हैं। अब भगवान् अंशुमाली खाने पीने का सामान बाँधकर यात्रा के लिये निकल पड़ते हैं। चलते-चलते थक जाते हैं। अस्ताचल में प्रतीक्षा में बैठी अपनी प्रिया निशा के रक्त रञ्जित अंचल में फिर छिप जाते हैं। प्रियतम को अपने वक्ष में ढँककर फिर निशा रानी का ही आधिपत्य हो जाता है। उस समय सूर्य का अस्तित्व-सा ही नहीं दीखता। लोग प्रसन्न होते हैं, आज हम २० वर्ष के हुए, आज हमारी ५१ वीं वर्ष गाठ है। आज हम इतने बढ़ गये। उन मूर्खों को पता नहीं 'अरे' तुम बढ़ नहीं रहे हो, घट रहे हो। तुम्हारी आयु के इतने दिन घट गये। तुम्हारे मूलधन से इतने बहुमूल्य सिक्के निकल गये। अजी क्या करें, यह परीक्षा पास करनी है। जहाँ यह परीक्षा दी कि विवाह करना ही होगा। जब जाता हूँ, माता रोती है, पिता का भी बड़ा आग्रह है। हाँ तो इस साल विवाह होगा। अहा, बस अब जीवन सरसता के साथ बीतेगा। विवाह के होते ही आजीविका की चिन्ता। गृहस्थी इतना भारी गड्ढा है कि कभी भरता ही नहीं। कितना भी कूड़ा डाल दो, कितने भी रुपये आ जायँ, सदा अभाव बना रहता है। जितनी आय होती है, उससे अधिक खर्च बढ़ जाते हैं। पुत्र हुआ, पौत्र हुआ, विवाह है, गौना है, छोछक है, नेग है, जोग है, रात्रि-दिन यही चिन्ता यही सोच। कोई कहता है—लालाजी कुछ राम राम भी किया करो। रोकर कहता है—कैसे करूँ महाराज! तुम तो खाली बैठे हो, तुम्हें कुछ चिन्ता तो नहीं। भीख के रोट खाये। चद्दर से हाथ पोंछ लिये। 'आगे नाथ न पीछे पगहा।' यहाँ तो लड़का है, लड़की है, नाती हैं, पोते हैं, कुटुम्ब है, परिवार है, सभी का पालन करना है। हम न करें तो कैसे काम चलेगा।"

"लालाजी! कल मर गये तो कौन काम करेगा।" इतना सुनते ही मारे क्रोध के सम्पूर्ण शरीर से चिनगारियाँ निकलने लगती हैं। मन ही मन कहता है, तू मरे तेरा बाप मरे, हम क्यों मरें" किन्तु ऊपर से कह देता है—"महाराज! तब की तब देखी जायेगी। जब तक जीना है तब तक सीना है।"

इन्हीं विचारों में यह प्राणी प्रमत्त बना रहता है, इसे समय का पता नहीं रहता। आयु कितनी बीत गई, इसकी कोई चिन्ता नहीं। कब दिन हुआ कब रात्रि, इसका भी भान नहीं। बस अपनी ही धुनी धुनी में मस्त रहता है। इधर प्राणी तो प्रमत्त बना रहता है, काल भगवान् अप्रमत्त होकर अव्यग्र भाव से उसको टकटकी लगाये देखते रहते हैं। जहाँ अवसर आया कि गला धर दबाते हैं, टें कर जाता है, फिर न बेटे सहायता करते हैं न पोते। मुँह फाड़कर, आँख नटेर कर बाबूजी पट्ट के पट्ट ही पड़े रह जाते हैं।' दो दिन का जग में मेला, उड़ि जायगो हंस अकेला।'

नारदजी कहते हैं—"राजन्! जब मानिनी पुरंजनी को मनाने में कुशल पुरंजन ने अपनी चाटुकारिता और दीनता से मना लिया, तब तो दोनों हिल मिल गये। दूध चीनी की भाँति एक हो गये। एक ने दूसरे को अपना लिया, अपने में मिला लिया। रात्रि गई, दिन आया। शरीर से अलग होने पर भी मन तो दोनों का एक दूसरे में अटका ही रहता था। दिन के पश्चात् रात्रि, रात्रि के पश्चात् दिन ऐसे सप्ताह बीता। दो सप्ताह होने पर पक्ष। दो पक्ष का महीना। १२ महीने का वर्ष। इस प्रकार वर्ष पर वर्ष बीतते गये। न जाने उस प्रमदा के बाहु पाश में रोज कौन इतना नित नूतन आकर्षण भर जाता था कि उसका उपधान लगते ही पुरजन आत्म विस्मृत हो जाता। उस मिलन आलिङ्गन से इतना उन्मत्त हो जाता कि उसे दिन रात्रि का पता ही न रहता। अब

पुत्र होने लगे। एक दो दस बीस सौ-दो-सौ नहीं, पूरे ११ सौ पुत्र हुए। और ११० कन्यायें। सब की सब शील सम्पन्न, उदार यशस्वी और पिता के सुयश को बढ़ाने वाली सन्तानें थीं। अब एक नया ससार चालू हुआ। एक से दो और दो से बहुत हो गये मनुष्य जिसमें सुख समझता है, उसे ही अपने आत्मीयों प्रिय जनों को प्रदान करता है। लड़के बड़े हो गये। उनका विवाह करना ही चाहिये। विवाह न होगा, तो वंश वृद्धि कैसे होगी। वंशपरम्परा का उच्छेद हो जायगा। नाम कैसे चलेगा। पितरों का पिंडा कौन देगा ? इसलिये चिन्ता करके परिश्रम करके पुत्रों का विवाह करना ही है। अब रात्रि दिन यही चिन्ता कोई सुन्दर सी लड़की मिले, अच्छा कुल हो लड़कों की चिन्ता कर ही रहे थे, लडकियाँ स्यानी हो गईं।

लड़कों की तो कोई बात नहीं। कहीं न कहीं से साँठ-गाँठ लग ही जायगी। सबसे भारी चिन्ता इन लड़कियों की है। कितनी बडी हो गयी है, कोई क्या कहेगा। घर में घुसते ही हृदय फटने लगता है। ये किसी तरह अपने घर राजी बाजी से चली जायँ। कैसे भी इनके पीले हाथ हो जायँ। यही रात्रि-दिन चिन्ता सताती रहती है। यदि कुछ ऐसी वैसी कची-पक्की कोई घटना हो गई, तब तो मरना ही हो जायगा। संसार के सामने क्या मुँह दिखावेंगे। हे भगवान् लाज रखलो। लडकियों के लिये योग्य वर मिल जायँ। अपने-अपने घर चली जायँ, तो सुख की नींद सोवें। निश्चिन्त होकर कुछ यज्ञ याग करें। इस प्रकार की चिन्ताओं में पुरंजन मग्न रहने लगा।

इस पर महाराज प्राचीनबर्हि ने पूछा—"महाराज ! यह जीव इतनी चिन्ता क्यों करता है ? होता तो वही है जो भगवान् को करना होता है। प्रयत्न करने पर भी बहुत से कार्य नहीं होते, अनायास ही हो जाते हैं।"

नारदजी ने कहा—"राजन्! इसी का नाम तो अज्ञान है। यही तो माया है। मनुष्य अपने को कर्ता मान बैठा है, इसीलिये नाना क्लेशों को सहता रहता है। यदि यह दृढ धारणा हो जाय कि करने वाले दूसरे हैं, हम तो निमित्त मात्र हैं, तो फिर ये झगड़े ही न उठें। मनुष्य सदा उन्हीं सर्व समर्थ श्रीहरि पर अपना सब कुछ छोड़कर निश्चिन्त हो जाय। सब कार्यों में उन्हीं का प्रत्यक्ष हाथ दिखाई देने लगे।"

हाँ तो अब आप पुरंजन की कथा सुनिये। पुरंजन ने एक एक करके अपने सभी पुत्रों का विवाह कर दिया। लड़कियों के सदृश सुन्दर वर खोज खोजकर उनका उनके साथ विवाह कर दिया। वे सभी लड़कियाँ पौरंजनी कहलायीं। उन्होंने अपनी ससुरालों में जाकर पिता की कीर्ति को बढ़ाया, सबके बहुत से लड़के हुए अब उन सबकी गणना कहाँ तक करें।

जितने ये ग्यारह सौ लड़के थे, सबके विवाह हुए झुण्ड की झुण्ड बहुएँ आईं। जब वे पैरों के नुपुर बजाकर छम्म छम्म करती हुई इधर से उधर महल में घूमतीं और पुरंजन को देखते ही घूँघट मार लेतीं, तो पुरंजन का मन ही मन बड़ी प्रसन्नता होती। उन प्रत्येक बहुओं के १००-१०० लड़के हुए। उन लड़कों के विवाह हुए, उनके भी लड़के हुए। राजन्! अब कहाँ तक गिनाव यही समझें कि उस पूरे देश भर में केवल राजा पुरंजन का परिवार ही परिवार भरा हुआ था। हजारों लाखों पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र हो गये थे। इधर लड़कियों के भी बहुत सी सन्तानें हुईं।

अब तक एक चिन्ता थी, अब एक से अनेकों की चिन्ता हो गई। पहिले अपने सिर में दर्द होता था, तो पीडा होती थी, अब पुत्र पौत्र किसी के भी सिर में दर्द हो, ऐसा लगता मानों मेरे ही सिर में दर्द हो रहा है। जिसका जितना ही विस्तृत

ममत्व होता है, जितना ही अधिक लोगों से सम्बन्ध होता है, उसे उन सबके सुख-दुःख में उतना ही सुखी-दुखी होना पड़ता है। अब पुरंजन को रात्रि दिन पुत्र, पौत्र, गृह कोप, सेवक, दास दासी, देश, राज्य आदि की चिन्ता होने लगी। आज यह नहीं है, आज वह नहीं है, आज यह लाओ, कल वह लाओ। लड़की को उसकी ससुराल पहुँचाओ। उस लड़के की बहू को लिवा लाओ। उसके बच्चा हुआ है। उस लड़की के सिर में दर्द है, उसके पेट की दवा लाओ। बस, इन्हीं कामों की चिन्ता में उसका समय व्यतीत होने लगा। शनैः शनैः युवावस्था समाप्त होने लगी। मुँह दाँतों से हीन हो गया। सिर अपने आप हिल-हिल कर इन विषय भोगों में फँसने को बार-बार मना करने लगा। किन्तु पुरंजन किसकी सुनने वाला था? वह तो इन्हीं को सब कुछ समझे बैठा था।

अब उसने सोचा—"स्वर्ग में चलकर भी ये ही सब सुख प्राप्त हों, इसके लिये यज्ञ याग करने चाहिये। यहाँ दान करेंगे तो स्वर्ग में सुन्दर-सुन्दर अप्सरायें मिलेंगी। दिव्य भोग भोगने को मिलेंगे। अतः मरने पर भी ये ही सांसारिक सुख प्राप्त हों, इस इच्छा से उसने बड़े-बड़े यज्ञों की दीक्षा ली। राजसूय, अश्वमेध आदि बहुत व्ययसाध्य यज्ञों को वह बड़े ठाट-बाट से करने लगा। उनमें अनेक पशुओं की हिंसा की जाती। असंख्यों भोले-भाले निर्दोष जीवों का बलिदान किया जाता। उन पशु हिंसामय भयंकर यज्ञों द्वारा वह देवता, पितर और भूपतियों की आराधना करता था।"

नारदजी राजा प्राचीनबर्हि से कहते हैं—"राजन् इस प्रकार वह पुरंजन परमार्थ साधन से भ्रष्ट होकर अपने कुटुम्ब, परिवार पुत्र पौत्रों में आसक्त हुआ, काल की दुरत्ययगति को भूल गया। उसे इस बात का स्मरण ही नहीं रहा कि एक दिन

मुझे मरना भी है। इसी प्रकार नाना चिन्ताओं में फँसे रहने के कारण उसकी युवावस्था व्यतीत हो गई अब वृद्धावस्था आकर प्राप्त हुई जो स्त्रियों को अत्यत ही अप्रिय है। इन्द्रियाँ तो शिथिल हो गइ किन्तु तृष्णा और भी अधिक बढ गई। भोगेच्छा का अन्त नहीं हुआ। कामवासना शान्त नहीं हुई। राजन्! वास नाओं से ही पुनर्जन्म होता है। वासना ही ससार को बनाती है। पुरञ्जन इतने दिन विषयों को भोगते रहने पर भी अतृप्त बना रहा। रात्रि दिन वह अपनी प्रियतमा का ही ध्यान करता रहता था।"

छप्पय

*ग्यारह सौ सुत भये शूरता बलमहँ भारी।*
*दस ऊपर सौ भई सुता अति ही सुकुमारी॥*
*पुत्रनिकें हू पुत्र भये चित चहुँ दिशि भटक्यो।*
*पुत्र, पौत्र, गृह, कोष दासनिमहँ अटक्यो॥*
*ममतामहँ मदमत्त है, अन्धकूप महँ धँसि गयो।*
*विषय भोग जग जाल के, फन्देमहँ खल फँसि गयो॥*

---

# पुरञ्जन की पुरी पर शत्रु की चढ़ाई

## [ २६२ ]

चण्डवेग इति ख्यातो गन्धर्वाधिपतिर्नृप।
गन्धर्वास्तस्य बलिनः षष्ट्युत्तरशतत्रयम् ॥
गन्धर्व्यस्तादृशीरस्य मैथुन्यश्च सितासिताः।
परिवृत्त्या विलुम्पन्ति सर्वकामविनिर्मिताम् ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० २७ अ० १३-१४ श्लोक)

छप्पय

जग परिवर्तनशील एक—सो रहे न कोई।
जनम मृत्यु सुख दुःख धूप छाया नित होई॥
आवें उन्नति संग सग अवनति कूँ लैकें।
यौवन कूँ लै जाय जरा झाँसो सो दैकें॥
चण्डवेग गन्धर्वपति, पुरी पुरंजन की चढ्यो।
वीर तीन सौ साठ संग, विजय करन आगे बढ्यो॥

एक कहानी है। एक बड़ा बुद्धिमान राजा था। वह सबसे तीन प्रश्न करता। (१) संसार में सबसे अच्छा समय कौन है

---

* नारदजी राजा प्राचीनबर्हि से कहते हैं—"राजन्! चण्डवेग नाम का एक गन्धर्वों का राजा था। ३६० महा बलवान् गन्धर्व उसके अधीन थे। गन्धर्वों की उतनी ही गन्धर्वियाँ थी। उनमें से आधी काली थीं आधी गोरी। उन सब ने राजा पुरंजन की सम्पूर्ण भोग सामग्रियों से युक्त पुरी को घेरकर लूटना आरम्भ कर दिया।"

(२) संसार में सबसे श्रेष्ठ कार्य कौन है ? (३) संसार में सबसे अच्छा मनुष्य कौन है ? बहुत से पडित आते इन प्रश्नों के भाँति-भाँति के उत्तर देते, किन्तु राजा को सन्तोष नहीं होता था। कोई कुछ उत्तर देता कोई कुछ, किन्तु राजा का मन नहीं भरता था।

एक दिन राजा ने सुना एक वन में बड़े विद्वान् महात्मा रहते हैं, वे मेरे प्रश्नो का उत्तर दे सकेंगे, अतः कुछ साथियों को सग लिये हुए वह उसी वन में अपने प्रश्नों के उत्तर पाने के निमित्त जा रहा था। वहाँ राजा का एक पुराना शत्रु राजा छिपा था। वह इसी घात में वहाँ रहता था कि कहीं राजा मिल जाय तो उसे मार डाले। राजा तो आगे बढ गये पीछे किसी अंग रक्षक ने उससे युद्ध किया। अंग रक्षक मर गया। वह शत्रु राजा घायल हो गया। राजा को इन बातों का पता नहीं था। वे सीधे साधु की कुटिया पर पहुँचे। उस समय महात्मा अपने पेड़ों की क्यारियों में पानी दे रहे थे, राजा को देखकर साधु ने उसका सत्कार किया। बैठने को आसन दिया। राजा बैठ गया, उसने साधु से वे ही तीन प्रश्न पूछे—ससार में सर्वश्रेष्ठ समय, सर्वश्रेष्ठ मनुष्य और सर्वश्रेष्ठ कार्य कौन-सा है ? राजा का प्रश्न सुनकर महात्मा कुछ भी नहीं बोले। इतने में ही घायल हुआ वह शत्रु राजा भी महात्मा की शरण में आया। महात्मा ने उसे दुखी देखकर शीघ्रता से उसे शरण दी। उसके घाव मे पट्टी बाँधी, कुटी मे राजा की सहायता से लिटा दिया। राजा को गरम दूध दिया कि धीरे धीरे उसके मुख में डालें। गरम दूध डालने से उसको चेतना हुई। राजा को इस प्रकार सेवा करते देखकर उस शत्रु राजा का हृदय पसीज गया। उसने अपना परिचय दिया और अपना अपराध स्वीकार करके राजा से सन्धि करली जब वह स्वस्थ हो गया, तब राजा ने महात्मा से कहा—

"भगवन्! आपने मेरे प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया।"

महात्मा ने कहा—"भाई, मैंने तो तुम्हारे तीनों प्रश्नों का उत्तर दे दिया।'

राजा ने आश्चर्य से कहा—"भगवन्! आपने तो एक भी शब्द नहीं कहा। उत्तर कैसे दे दिया? मैं तो कुछ भी नहीं समझा।"

महात्मा ने कहा—"देखो, मैंने कहकर नहीं करके तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दिया। तुम्हारा सबसे पहला प्रश्न था कि संसार में सर्वश्रेष्ठ समय कौन सा है? सो देखो, जो बीत गया वह तो बीत ही गया, वह तो लौटकर आने का नहीं, उसकी चिंता करना व्यर्थ है। आने वाला समय भविष्य के गर्भ में छिपा है, अतः उसका पता नहीं आवे न आवे, कैसा आवे।" जिसका अभी अस्तित्व नहीं उसकी भी चिन्ता व्यर्थ है। जो इस समय बीत रहा है वर्तमान है वही समय सबसे श्रेष्ठ है। इसीलिये इस क्षण जो बीत रहा है वही सर्वश्रेष्ठ समय है। बोलो यह बात ठीक है न?" राजा ने कुछ सोचकर कहा—"हाँ, भगवन्! यह तो ठीक है।" अब यह बताइये सर्वश्रेष्ठ मनुष्य कौन है? इस पर महात्मा बोले—"राजन्! संसार में एक से एक श्रेष्ठ मनुष्य पड़े हैं। जिसे आप श्रेष्ठ समझते हैं, वह दूसरों की दृष्टि में अत्यन्त ही कनिष्ठ है। आप जिसे क्षुद्र समझते हैं, बहुतों की दृष्टि में वही महान् है। अतः वर्तमान क्षण में जो हमारे सम्मुख हो वही श्रेष्ठ है। जब तुम आये थे, तो मेरे लिये तुम श्रेष्ठ थे। तुम्हारा स्वागत सत्कार किया, दूसरे क्षण वह बीमार आया। वह मेरे लिये श्रेष्ठ था। उसकी सेवा सुश्रूषा की। अतः जो भी सामने आ जाय, वही श्रेष्ठ है।"

यह सुनकर राजा हँस पड़ा और बोला—"हाँ, महाराज! यह तो सत्य है। अच्छा, अब बताइये सर्वश्रेष्ठ कार्य कौन है?"

इस पर महात्मा जी बोले—"राजन्! कार्य न कोई श्रेष्ठ, न कनिष्ठ, अपनी-अपनी भावना के अनुसार लोग श्रेष्ठ, कनिष्ठ बना लेते हैं। अतः वर्तमान क्षण मे अपने सम्मुख जो भी कार्य आ जाय वही श्रेष्ठ है। जब तुम नहीं आये थे, तो क्यारियों में पानी देना ही मेरे लिये सर्वश्रेष्ठ कार्य था। जब तुम आ गये, तो तुम्हारा स्वागत सत्कार सर्वश्रेष्ठ कार्य हो गया। फिर यह रोगी का कार्य मेरे सम्मुख आ गया, अतः यह सर्वश्रेष्ठ कार्य हुआ। अतः जो भी कर्तव्य कर्म सामने आ जाय वही श्रेष्ठ है।"

यह सुनकर राजा बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला—"महाराज, आज मेरे प्रश्नों का यथार्थ उत्तर मिला है। आज मेरी समस्त शंकाओं का समाधान हुआ है।"

इस पर महात्मा जी गम्भीर होकर बोले—"राजन्! इस क्षण में परिवर्तनशील संसार में श्रेष्ठ ही क्या। सभी श्रेष्ठ हैं। सम्मुख जो भी आ जाय, उसी का जो स्वागत करता है, वही सुखी है। यौवन है तो उसका स्वागत, जरा है उसका भी स्वागत। जीवन का भी स्वागत, मृत्यु का भी स्वागत, शत्रु का भी स्वागत मित्र का भी स्वागत। जिसकी ऐसी बुद्धि हो जाती है, फिर उसे संसार में बन्धन नहीं। बन्धन तो विषमता में है द्वन्द्व में है। जिसने साम्यावस्था को प्राप्त कर लिया है, जो निर्द्वन्द्व है उसे अनुकूलता में हर्ष नहीं प्रतिकूलता में विषाद नहीं।" महात्मा के उपदेश को सुनकर राजा महात्मा को प्रणाम करके अपने घर चला गया।"

नारदजी कहते हैं—"राजन्! जब तक मनुष्य युवा रहता है, बलवान् बना रहता है, तब तक उसे अपने बल पौरुष का अभिमान रहता है, मेरा कोई क्या बिगाड सकता है? मेरा सामना कौन कर सकता है? मुझे पराजित करने की सामर्थ्य किसमें है। किन्तु जहाँ निर्बलता आई कि सभी उस पर आक्रमण

करने लगते हैं। बलहीन का सहायक कोई नहीं होता, दुर्बल का दैव भी घातक बन जाता है। यह संसार निर्बलों के लिये नहीं है। रुकने के लिये नहीं है। रुको मत ठहरने की आवश्यकता नहीं। जीना है तो बलवान् होकर जीओ, नहीं तो मरने को तैयार हो जाओ। आगे बढ़ो या मरो। इस परिवर्तनशील संसार में एक स्थान पर स्थिर कौन रह सकता है।"

अब पुरंजन के भी पतन का समय आ गया। एक चंडवेग नाम का गन्धर्वों का अधिपति था। उसके साथ सेना तो छोटी-सी ही थी। ३६० बड़े बलवान उसकी सेना में गन्धर्व थे और उतनी ही उनकी गन्धर्वियाँ थीं। उन गन्धर्वियों में आधी गोरी थीं और आधी काली। महाराज! लोग व्यर्थ में काले गोरे का भेद-भाव करके ये अपनी अज्ञता दिखाते हैं। इन शरीरों में क्या गोरा क्या काला। धातुएँ सब एक-सी ही हैं। वही रक्त, वही मांस, वे ही हड्डियाँ। ऊपर के चमड़े में उष्णता से कुछ कालिमा आ गई, शीतलता से कुछ गोरापन आ गया तो इससे क्या हुआ हृदय गोरा हो तो ठीक है। हृदय काला शरीर गोरा यह तो वैसे ही है, कि सुवर्ण के घड़े में मल मूत्र भरा हुआ हो।

हाँ, तो उन गन्धर्व और गन्धर्वियों ने पुरंजन की पुरी को चारों ओर से घेर लिया और हा हा हू हू करके लूट पाट मचाने लगी। गन्धर्वियाँ चुपके-चुपके आँख मुँदने पर माल चुरातीं। गन्धर्व सबके सामने जागते रहने पर लूट ले जाते। पुरंजन देखता हुआ भी कुछ न कहता। उसके सेवक भी कुछ करने में समर्थ न हुए। बिचारा पाँच फन वाला सर्प लड़ता रहा। यह उन गन्धर्व गन्धर्वियों से जूझता रहा। किन्तु वह अकेला ये सब ७२० कहाँ तक लड़ता। फिर बिचारा बूढ़ा भी हो चला था। चिरकाल से पुरंजन के पुर की रक्षा करते-करते शिथिल बन गया था। फिर भी सौ वर्ष तक तो उसने टक्कर ली। शत्रुओं

का सामना करता रहा, किंतु पुरंजन ने देखा अब सर्प बलहीन हो गया है। अपनी शक्ति भर सदा सचेष्ट बना रहता है, किन्तु सभी कार्यों की सीमा होती है, अकेला ७२० के साथ कहाँ तक जूझे। इससे उसे और भी अधिक चिन्ता हुई। अब उसने सोचा! मेरी पुरी की मेरे राष्ट्र की अब रक्षा होनी असंभव है। इन गन्धर्वों ने मुझे जर्जरित बना दिया है। शनैः-शनैः मेरा सब धन धान्य ये लूट ले गये हैं। यदि किसी दूसरे प्रबल शत्रु ने इसी अवसर पर आकर चढ़ाई कर दी, तो फिर मैं उसे हराने में समर्थ न हो सकूँगा। यह सर्प इन्हीं से हार मान रहा है। इनसे प्रबल शत्रु के सम्मुख तो यह ठहर भी न सकेगा।

अब एक और भी चिन्ता की बात हो गई। अभी तक तो उसके दूत इधर-उधर से कर लाकर इसे देते थे, वह भी पाञ्चाल देश की अपनी प्यारी पुरी में रहकर इन क्षुद्र विषय सुखों का आनन्द के साथ उपभोग करता था, किन्तु अब दूत भी शिथिल हो गये। स्वयं भी बूढ़ा हो चला था। अब तक तो स्त्री के प्रेम पाश में बँधा ऐसा उन्मत्त हो रहा था, कि उसे इस अवश्यम्भावी घटना का भान भी नहीं था। वह समझता ही नहीं था, कि ऐसी विपत्ति मेरे सिर पर आने वाली है। अब जब आ गई, तब वह बड़ा उद्विग्न हुआ।

नारदजी कहते हैं—"राजन! जहाँ एक बार चोट लग जाती है, फिर वह अदबदा कर दूसरी चोट लग जाती। घर में अन्न भरा पूरा हो, तब तो सदा अजीर्ण बना रहता है, जहाँ घर में अन्न नहीं रहा, वहाँ भूख भी भयंकर रूप रखकर आ जाती है। इसी प्रकार दुर्बल के ऊपर सभी प्रहार करते हैं। मरे को सभी मारते हैं, गिरे को सभी गिराते हैं। पुरंजन अब दुर्बल हो गया था, उसकी पुरी में लूट पाट मच गई थी। सेवक सुस्त हो गये थे। पाँच फन वाला सर्प शक्तिहीन बन चुका था। इसी समय

भय नामक यवनों के राजा का एक बड़ा प्रबल सेनापति तथा उसका भाई एक औरत को संग लिये हुए दल बल सहित पुरञ्जन की पुरी की ओर आया। उसे क्षीण, तथा शक्तिहीन देकर प्रज्वार ने उस पुरी पर चढ़ाई कर दी। प्रज्वार के साथ जो एक काली-काली भयंकर आकृति वाली लुगाई थी, वह बड़ी बलवती थी। उसमें इतनी शक्ति थी, कि जिस नगर पुर पर वह चढ़ाई कर दे उसे बिना जीते वह छोड़ती ही नहीं थी। वह सर्वत्र अजेया थी। उसे जीतने की किसी में सामर्थ्य नहीं थी।

बड़े आश्चर्य के साथ महाराज प्राचीनबर्हि ने कहा—"उस स्त्री में इतनी सामर्थ्य किस कारण से हुई ? किसके वरदान से वह ऐसी बलवती बन गई थी ? उसके पिता का क्या नाम था ? उसका विवाह किसके साथ हुआ। उस इतनी अजेया नारी का चरित्र आप उचित समझें तो मुझे सुनावें।"

यह सुनकर नारदजी बड़े जोरों से हँस पड़े और बोले-"राजन् ! क्या बताऊँ। वह चण्डी तो मेरे साथ विवाह करना चाहती थी। जैसे तैसे करके मैंने उससे पिण्ड छुड़ाया था अच्छी बात है सुनिये, मैं उसका संक्षिप्त चरित्र आपको सुनाता हूँ।"

### छप्पय

*गन्धर्वी सँग साठ तीन सौ कारी गोरी।*
*करी चढ़ाई चण्डवेग सँग सेना थोरी॥*
*पाँच फननि को स्याँप सबनि तें लड़िबे लाग्यो।*
*किन्तु कहाँ तक लड़ै बली सब साहस त्याग्यो॥*
*घबरायो अति पुरंजन, वशीभूत नारी भयो।*
*लूटी नगरी सबनि मिलि, अति उदास नृप है गयो॥*

## कालकन्या का चरित्र

### [ २६३ ]

कालस्य दुहिता काचित्त्रिलोकीं वरमिच्छती ।
पर्यटन्ती न बर्हिष्मन् प्रत्यनन्दत कश्चन ॥
कदाचिदटमाना सा ब्रह्मलोकान्महीं गतम् ।
वव्रे बृहद्व्रतं मां तु जानती काममोहिता ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० २७ अ० १९, २१ श्लोक)

छप्पय

*भय भाई प्रज्वार काल कन्या सँग आयौ ।*
*लखी पुरी अति छीन आइ अधिकार जमायौ ॥*
*भूपति पूछे प्रभो ! काल कन्या को नारी ।*
*बोले—नारद नृपति, कुरूपा फिरै कुमारी ॥*
*पति चाहै जग महँ फिरै, कौन कुरूपाकूँ वरै ।*
*निरखि मोइ सकोच कछु, मौं चलाइ सैनति करै ॥*

जो जग के सुखो को चाहते हैं, विकार उन्हीं के शरीर मे

---

* नारदजी कहते हैं—"हे बर्हिष्मन् ! राजन ! काल की एक कन्या थी, वह अपने अनुरूप पति खोजती-खोजती सम्पूर्ण त्रिलोकी मे घूम आई, किन्तु उस कुरूपा को किसी ने भी स्वीकार नहीं किया । एक बार मैं ब्रह्मलोक से पृथ्वी पर आ रहा था, मुझे नैष्ठिक ब्रह्मचारी जानकर भी उस कामातुर कालकन्या ने पति के रूप मे वरण करने का प्रस्ताव किया ।"

अपना अधिकार जमाते हैं। जो जग की आशा छोड़कर जगत् पति के चरणों में लीन हो गये हैं, उनके मन में विकारों के लिये स्थान ही कहाँ ? क्योंकि श्रीहरि तो शुद्ध बुद्ध तथा निर्विकार हैं। उनको हृदय में धारण करने वाले के समीप विकार फटक ही कैसे सकते हैं। मन विकारों के वशीभूत हो जाने से विकारमय बन जाता है और ब्रह्म का चिन्तन करते-करते ब्रह्ममय हो जाता है। सुख-दुःख का, लाभ-हानि का सम्बन्ध शरीर से है। आत्मा तो इन सबसे रहित अविनाशी एकरस अखण्ड तथा अपराजित है। आत्माराम पुरुष को कोई पराजित नहीं कर सकता और विषया-सक्त पुरुष को पतन से कोई बचा नहीं सकता, यही शास्त्रीय सिद्धान्त है।

नारदजी कहते है—"राजन् ! अब पुरजन की उन्नति समाप्त हो गई। अब वह अवनति की ओर अग्रसर होने लगा। ३६० गन्धर्व और ३६० गन्धर्वियों को साथ लेकर चण्डवेग नित्य ही उसकी पुरी को लूटने लगा। फिर भी वूढा सर्प जैसे-तैसे उनसे अपनी रक्षा करता रहा। अब कालकन्या की चढ़ाई से वह सब ओर से घिर गया। आपने पूछा था कालकन्या कौन है, सो उसका भी मैं संक्षिप्त चरित्र आपको सुनाता हूँ, आप इसे ध्यान पूर्वक श्रवण करें। यह नहीं कि इस कान से सुना उस कान से निकाल दिया।"

देखिये काल नामक एक राजा थे। उनकी एक लड़की थी। बड़ी ही कुरूपा काली कलूटी उसके बाल कठोर थे। आँखें डरा-वनी थीं, ओंठ मोटे-मोटे और काले थे। दाँत बड़े-बड़े और भया-नक थे। शरीर का चर्म जंगली भैंस के समान था। नाक बड़ी और चिपटी थी, जो देखे वही डर जाय। ऐसी डाइन के साथ विवाह कौन करने लगा, इसलिये वह बहुत दिन तक कुमारी ही बनी रही। यहाँ तक कि उसके बाल भी सफेद हो गये, मुँह भी

पोपला हो गया, किन्तु ब्याह करने का उसे बड़ा चाव था। अब तक सोचती थी मेरा बाप कहीं न कहीं साँठ गाँठ लगावेगा। जब वह सब ओर से निराश हो गयी, तब स्वयं वर ढूँढन को निकल पड़ी। राजन्! जो कुमारी स्वेच्छाचारिणी होकर स्वयं पति की खोज में मारी-मारी फिरती हैं, वे निर्लज्ज हो जाती हैं। जिसे भी देखती हैं, निशंक होकर प्रस्ताव कर बैठती हैं। उनमें नारी सुलभ शील संकोच रहता ही नहीं। वे तो स्वैरिणी के समान चारों ओर भटकती फिरती हैं। वह कालकन्या भी इधर उधर घूमती फिरती थी। बड़ी चटक मटक के साथ बन ठनकर काजर बेंदा लगाकर वह छम्म छम्म करती फिरती थी। महाराज! जिनमें सहज सौन्दर्य होता है। वे चाहे कुछ भी श्रृङ्गार न करें तो भी वह मनोहर लगते हैं, वे चाहे घास फूस कुछ भी शरीर पर रख लें उनके शरीर के संसर्ग से वे बुरी वस्तुएँ भी अच्छी लगती हैं, किन्तु जो नैसर्गिक कुरूप हैं वह कितना भी श्रृङ्गार करें उनके शरीर पर सुन्दर वस्त्राभूषण भी बुरे दिखाई देते हैं श्रृङ्गार के साज सामान भी उनके अंग में जाकर लजा जाते हैं। कालकन्या की भी यही दशा थी। वह जितनी ही बनती-ठनती थी, उतनी ही अधिक कुरूपा दिखायी देती थी एक बार घूमते फिरते मुझसे भी उसकी भेंट हो गई और उस निर्लज्जा ने मुझसे भी विवाह का प्रस्ताव कर डाला।"

यह सुनकर महाराज प्राचीनबर्हि को बड़ी हँसी आई। अपनी हँसी को रोककर वे बोले—"भगवन्! आपसे उसकी कहाँ भेंट हो गई? फिर आपको तो संसार जानता है आप नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। आप विवाह बन्धन में कभी बँध ही नहीं सकते। आपसे उसने ऐसा बेतुका प्रस्ताव कैसे कर डाला?"

इस पर नारदजी जल्दी से बोल उठे- "राजन्! बतावें। स्वार्थ में मनुष्य अन्धा हो जाता है। काम से

हुआ प्राणी विवेक को खो बैठता है। विषयासक्त पुरुष लज्जा को तिलाञ्जलि दे देता है। यह काम की वासना इतनी प्रबल होती है, कि इसमें कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक रहता ही नहीं। मुझे तो आप जानते ही हैं। मेरी किसी भी लोक मे रोक टोक नहीं। चोदहो भुवनो मे मेरी अव्याहत गति है। वह कालकन्या तो मृत्यु लोक की ही नारी थी। इसी लोक के प्राणियों से उसका सम्बन्ध हो सकता है। फिर जो विषयी हो, किन्तु विषयी भी उसकी इच्छा नहीं करते थे क्योंकि वह देखने मे बडी डरावनी भयकर और बुरी लगती थी।"

मैं एक दिन ब्रह्मलोक से आ रहा था। पृथ्वी पर ज्यों ही उतरा कि उसकी दृष्टि मुझ पर पडी। मेरा रूप देखते ही वह दुष्टा काम मोहित हो गई और मेरे पास आकर अपनी चटक-मटक दिखाती हुई आँखें नचाकर शैन मटकाकर, मुँह बनाकर, दातों को दिख कर झूठी हँसी हँसती हुई बोली—"नारदजी! कहिये आप अच्छी तरह से हैं?"

मैं तो अचम्भे मे पड गया। जान न पहिचान यह कैसे कुशल प्रश्न पूछ रही है। फिर भी मैंने कहा—" हॉ सब भगवान् की कृपा कहिये, आप अपना अभिप्राय बताइये।"

वह अपने पोपले मुँह को चलाती हुई बोली—"मैं आपसे प्रस्ताव करना चाहती हूँ, यदि आप उसे स्वीकार कर लें तो?"

मेरा माथा ठनका, कि यह डायन न जाने मुझसे क्या प्रस्ताव करने वाली है। उसकी चेष्टा से ही मुझे घृणा हो रही थी। फिर भी मैंने अपने भावों को छिपाते हुए कहा— "पहिले मैं आप का प्रस्ताव सुन तो लूँ तब निर्णय करूँगा कि आपका प्रस्ताव स्वीकार करने योग्य है अथवा नहीं। बिना सोचे समझे मैं हॉ ना कैसे कर सकता हूँ।"

वह आँख नचाकर बोली—"आपको मालूम होना चाहिये कि मैं कुमारी हूँ।"

मुझे उसकी इस बात पर हँसी आ गयी। बाल सफेद हो गये हैं, मुँह पोपला हो गया है। फिर भी अभी कुमारी कन्या बनी है।"

मैंने कहा—"अच्छा, तुम कुमारी ही सही। मैं क्या करूँ? तुम अपना अभिप्राय बताती हो, कि अपना जीवन चरित्र सुनाती हो।"

उसने कुछ रुक-रुककर कहा—"नहीं, यह मेरा अभिप्राय नहीं मनुष्य का जब पहिले परिचय हो जाता है, तभी उनके कुल गोत्र का पता लगता है, उस पर विश्वास होता है प्रेम बढ़ता है। मेरा प्रस्ताव यह है कि मैं ब्रह्मचारिणी हूँ, आप ब्रह्मचारी हैं हमारा तुम्हारा दोनों का विवाह हो जाय। बोलो इसमें आपको कोई आपत्ति तो नहीं है?"

नारदजी कहते हैं—"राजन्! उस दुष्टा की ऐसी बात सुन-कर मुझे क्रोध भी आया और हँसी भी आयी। मैंने अपने भावों को दबाते हुए कहा—"देवि! तुम्हें नमस्कार है। मैं तो नैष्ठिक ब्रह्मचारी हूँ। विवाह न करने की मैंने प्रतिज्ञा कर ली है। जीवन भर अविवाहित रहना ही मेरा महाव्रत है। अतः मुझ दीन पर दया दृष्टि रखो मुझे क्षमा कर दो। किसी और पति की खोज करो। मैं ऐसे चक्कर में फँसने वाला नहीं। मैं ऐसा मूर्ख नहीं हूँ जो जान-बूझकर अपने गले में फाँसी लगा लूँ। इतना बड़ा संसार पड़ा है, किसी और से विवाह कर लो।"

उसने खिसियाकर कहा—"इतना बड़ा संसार पड़ा है। सभी तो मुझसे डरते हैं। सभी तो निर्वीर्य हैं। मैं समझती थी, तुममें कुछ साहस होगा, तुम मुझे स्वीकार करके अपनी गृहस्थी बसा लोगे। बिना घरवाली के घर बनता नहीं। इधर से उधर

मारे मारे फिरते रहते हो। घर का आकर्षक गृहिणी ही तो है। मैंने तुम्हारी भलाई सोची थी, किन्तु तुम मेरे प्रस्ताव को स्वीकार नहीं कर रहे हो। उलटा मेरा अपमान कर रहे हो। अत मैं तुम्हें शाप देता हूँ, कि तुम्हारा कहीं एक जगह पैर न टिकेगा। तुम सदा कुम्हार के चाक की भाँति चौदहू भुवनों में घूमते ही रहोगे।"

नारदजी ने हँसकर कहा—"मुझे तुम्हारा शाप स्वीकार है, किन्तु मैं तुम्हारे साथ गठबन्धन नहीं कर सकता। परन्तु मैं तुम्हारे योग्य एक पति बताय देता हूँ। एक यवनों के बड़े प्रचण्ड प्रतापी भय नामक राजा हैं। उनके पास जाओ, वे तुमसे सम्भव है विवाह लें।"

दुखी होकर बोली—"अजी, इन राजाओं से क्या आशा। कुछ दिन पहिले महाराज ययाति के पुत्र राजकुमार पुरु ने मुझे स्वेच्छा से स्वीकार कर लिया था, पीछे उसने भी छोड़ दिया।"

तब नारदजी हँसकर बोले - "तब फिर तुम अपने को कुमारी क्यों बताती हो यों कहो मैं स्वैरिणी हूँ। बिना भोजन मिले की एकादशी व्रत करने वाली हूँ। जाओ जाओ यवनेश्वर के समीप जाने पर ही तुम्हारा मनोरथ पूरा हो जायगा।"

यह सुनकर वह यवनेश्वर भय के समीप गई और जाकर बोली —"देखो, मैं विवाह के लिये बड़ी उत्सुक हूँ। मैं अपने अनुरूप पति चाहती हूँ। ऐसे वैसे पुरुष से मैं विवाह नहीं कर सकती। आप यवनों के अधिपति हैं। आप मुझे स्वीकार कर लें। राजा के पास जो जिस सकल्प से आता है, वह उसका अवश्य पूरा होता है।"

यवनेश्वर ने कहा—"तुम कैसी धर्म विरुद्ध बातें कर रही हो?"

उस चपला ने अपनी चपलता प्रकट करते हुए कहा—

"देखिये, मैं धर्म विरुद्ध बातें नहीं कर रही हूँ। मुझे शास्त्रों का ज्ञान है। शास्त्रकारों ने कहा है, कि जो शास्त्र विहित दान नहीं देता, अथवा अधिकारी होकर जो श्रद्धा से दान दे उसे ग्रहण नहीं करते वे दोनों ही दोषी माने जाते हैं। देखिये, मैं आपको अपना सर्वस्व समर्पित करना चाहती हूँ। मैं आपकी जीवन भर की चिरसगिनी धर्मपत्नी बनना चाहती हूँ, आप मुझे स्वीकार करें। मैंअत्यन्त दीना हूँ, दयालु पुरुष सदा दीनों पर दया करते हैं। आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करके मुझे कृतार्थ करें। सब स्थानों से मैं निराश ही लौटी हूँ, किसी ने मुझे स्वीकार नहीं किया है। आपके द्वार से भी मैं निराश न लौटूँ। नारदजी ने मुझे आपका पता बताया है और आपकी शरणागत वत्सलता की बडी प्रशसा की है।"

उस कुरूपा कालकन्या की ऐसी चिकनी चुपडी बातें सुनकर यवनराज हँसते हुए कहने लगे—"देवि! मैं तुम्हें जानता हूँ, योगदृष्टि से मुझे तुम्हारा सब समाचार विदित है। तुम काल की कन्या हो। विवाह तो उसी के साथ होता है जिसका पूर्वजन्म के साथ संस्कार बदा हो। मेरा तुम्हारा पति पत्नी का सम्बन्ध बदा नहीं है। अतः मैं तुम्हे पत्नी रूप में स्वीकार नहीं कर सकता।"

कुछ रोप के साथ कालकन्या ने कहा—"मैं जहाँ भी जाती हूँ, वहीं मेरा ऐसा अपमान होता है, न जाने विधाता! मेरे भाग्य में क्या बदा है?"

सहानुभूति प्रकट करते हुए यवनदेव ने कहा—"देवि! क्रोध करने की कोई बात नहीं। सत्य बात तो यह है, कि तुम सबका अनिष्ट करने वाली हो इसीलिये तुम्हें कोई प्यार नहीं सकता।"

कालकन्या ने खीजकर कहा—"तब क्या मैं जन्म भर क्वारी ही बनी रहूँ।"

यवनराज ने कहा—"देखो, तुम्हें कोई स्वेच्छा से स्वीकार न करे तो यह जो कर्म जनित नामक लोक है, इसे ही तुम बलात्‌कार से गुप्त रूप से भोगो। यह लोक चाहे न चाहे तुम बिना चाहे ही इसके सिर पर सवार हो जाओ।"

कालकन्या ने कहा--"यह कर्म जनित लोक तो बलवान् है मैं अबला ठहरी। मैं इसके साथ बलात्कार कैसे कर सकती हूँ।"

यवनराज ने कहा—"देखो, इसका मैं उपाय बताता हूँ। मेरी बडी भारी सेना है। मेरा एक छोटा भाई है, उसका नाम है प्रज्वार। तुम उसे साथ लेकर मेरी सेना सहित लोक मे जाओ। तुम्हारे द्वारा सम्पूर्ण लोक का नाश हुआ करेगा। प्रज्वार मेरा भाई है तुम मेरी बहन हुई। तुम दोनों जाकर नगरो पर चढाई करो इस लोक को भोगो। मैं भी तुम्हारे साथ छिपकर रहा करूँगा।"

नारदजी कहते हैं—"राजन्! यवनराज की बात कालकन्या ने स्वीकार की। अब प्रज्वार और कालकन्या दोनों ने पुरजन की पुरी पर धावा बोला और उस पर अपना अधिकार जमा लिया।"

छप्पय

व्याह करन सकेत समुझि बोल्यो मुनि चण्डी।
व्याह न हौं अब करूँ भागि ह्यॉ ते मुस्टण्डी॥
भई कुपित अति शाप दयो थिर रहौ न तुम मुनि।
हौं बोल्यो भय बरो, गई ताको वैभव सुनि॥
भय भाई प्रज्वार सँग, फिरै लोकमहँ बहिन बनि।
पुरी परजन की गई, ताकी नृप अब कथा सुनि॥

———

# पुरञ्जनकी पुरी का विध्वंस

( २६४ )

यवनोपरुद्धायतनो ग्रस्तायां कालकन्यया ।
पुर्यां प्रज्वारसंसृष्टः पुरपालोऽन्वतप्यत ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० २८ अ० १३ श्लोक)

छप्पय

*संग लियो प्रज्वार पुरंजन पुर में आई ।*
*भोगे पुर के भोग अराजकता फैलाई ॥*
*भयो पुरजन कृपण नहीं मारग शुभ सूझै ।*
*पाँच फननि को स्याँप कहाँ तक इकलो जूझै ॥*
*प्रबल वीर प्रज्वार ने, आगि लगाई जरयो पुर ।*
*तोरि फोरि विध्वंस करि, करयो नाश नृप को नगर ॥*

मनुष्य चाहे कि मैं अपने पुरुपार्थ से भावी को मेट दूँगा, तो यह असम्भव है। सभी प्राणी स्वकर्म सूत्र से बँधे हैं। सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, तारे सभी तो काल की प्रेरणा से कार्य कर रहे हैं। संसार चक्र के समान घूमता रहना है, उन्नति के पश्चात् अवनति, उत्थान के पश्चात् पतन यही क्रम लगा रहता है।

---

* नारदजी कहते हैं—"राजन्! पुरजन पुरी को कालकन्या से व्याप्त और अपने घर को यवनों के हाथ मे गया देखकर तथा प्रज्वार के उपद्रवो से अत्यन्त पीडित वह पुरी की रक्षा करने वाला पाँच फनो वाला सर्प भी अत्यन्त दुःखी हुआ।"

आज जिस रुपये को एक आदमी अपना कहता है कल वही दूसरे का कहलाने लगता है। आज जिस घर को सेठजी मेरा मेरा कहते हैं कल उसके फाटक से सिपाही उन्हें घुसने नहीं देते। संसार में मेरा क्या है। सब तेरा ही तेरा है।

नारदजी कहते हैं—"राजन! पुरजन की बडी सुन्दर पुरी था। उसे पाकर वह प्रसन्नता से फूला नहीं समाता था। अपनी प्रिया के संग आनन्द विहार करते हुए उसे संसार का कुछ पता भी नहीं चलता था। पहिले तो गन्धर्व और गन्धर्वियों ने उस पुर में लूट पाट की, अब यवनराज भय के भाई प्रज्वार ने कालकन्या को साथ लेकर इस पुर पर अधिकार जमा लिया। कालकन्या बडी भयंकर और डरावनी थी। पुरजन की इच्छा नहीं थी, उसे अपनाये या प्यार करें। किन्तु वह डॉइन तो बलात्कार उससे चिपट गई। उसने इच्छा न रहने पर भी पुरजन को अपने अधीन कर लिया। उसी समय प्रज्वार ने उस भरी पूरी सुन्दर नगरी में आग लगा दी। बेचारा पुरजन जलने लगा। प्रज्वार के सैनिक भी जिसे जिस रास्ते से अवसर मिला उसी रास्ते से पुरजन के पुर में घुस गये। अब चारों ओर तोड फोड लूट-पाट अग्निदाह हाहाकार मचने लगा। पुरजन को कालकन्या ने कसकर पकड रखा था, वह तो उसके हाथ का ऐसा खिलौना बन गया, कि कुछ कर ही नहीं सकता था। कोई लूट करो या कोई नष्ट करो वह मन ही मन जलता रहता। अब तक वह अपने को पुरी का स्वामी समझता था, किन्तु उसके सामने ही सैनिक उनका विध्वंस कर रहे हैं वह कुछ कर नहीं सकता। ममता ज्यों की त्यों बनी है। अतः उसका अन्तःकरण रह रह कर रुदन करने लगा।

अब तो पाशा ही पलट गया। कालकन्या के बलात्कार करने से सभी उसके विरुद्ध हो गये। पुत्र, पौत्र, भृत्य, मन्त्री अब

उसकी आज्ञा नहीं मानते थे। पुरंजन की सुन्दर सजी हुई पुरी निरन्तर गन्धर्व और यवनों के आक्रमण से श्री-हीन हो गई। इससे राजा अत्यन्त दीन, बुद्धिहीन, ऐश्वर्यहीन, विषय वासना-ग्रस्त बन गया। स्त्री का भी अब पहिले जैसा स्नेह नहीं रहा, उसके भी व्यवहार में रूखापन आ गया। जितने उसके सखा सेवक तथा मन्त्री थे, सभी शत्रुओं के अधीन हो गये। इन सब विपत्तियों से छूटने का बहुत सोचने पर भी उसे कोई उपाय दिखाई नहीं दिया।

अब उसने सोचा—"इस कालकन्या ने तो मुझे क्रीडा मृग बना ही रखा है, पुरी मेरी किसी काम की रही नहीं। मेरी स्त्री यद्यपि मुझसे बहुत प्यार करती है, किन्तु इस कुरूपा कुलटा कालकन्या ने तो मुझे बलपूर्वक मेरी इच्छा न होने पर भी कस कर अपने बाहु पाशों में बाँध रखा है। अतः अब इस सारहीन श्रीहीन निस्सार पुरी को त्याग देना चाहिये।"

यवनराज भय और प्रज्वार तो यह चाहते ही थे, किसी प्रकार यह यहाँ से भागे, अतः उन्होंने अब नित्य ही अग्निदाह लूट-पाट आरम्भ कर दी। इससे समस्त पुरवासी, सेवक, स्वजन कुटुम्बी तथा रानी पुरंजनी भी दुखी हुई। लड़ने वाला, रक्षा करने वाला वह पाँच फन वाला सर्प ही था। वह अकेला इतने शत्रुओं से एक साथ कब तक युद्ध करता। वह भी थक गया और अब उसकी भी शक्ति क्षीण होने लगी थी। वह भी बूढ़ा हो चला था। चारों ओर तो संताप सब ओर तो अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित शत्रु सैनिक, बीच में बिचारा अकेला सर्प उसी प्रकार जलने लगा जैसे सूखे वृक्ष के कोटर में बैठा पक्षी उसमें आग लगने से जलने लगता है। अब उस सर्प ने भी वहाँ से भागना ही उचित समझा। वह भागकर किसी दूसरी पुरी में जाने को उद्यत हुआ।

स्वयं पुरंजन तो विषय भोग करना जानता था। रक्षा का समस्त भार तो उस सर्प के ही ऊपर था। उस सर्प को भी जाते देखकर पुरंजन अत्यन्त भयभीत होने लगा। अब उसे चारों ओर निराशा ही निराशा दिखाई देने लगी। सर्वत्र अंधकार ही अन्धकार प्रतीत होने लगा। वह रोने धोने लगा, चिल्लाने बिल बिलाने लगा। अपने पुर, पुत्र, पौत्र, पुत्रबधू पुत्री, जामाता, सेवक, स्वजन, घर, द्वार, कुटुम्ब, परिवार तथा अन्यान्य अपने कहलाने वाले पदार्थों के लिये चिन्ता करने लगा। अब उसे सब चीजें अपने हाथ से जाती हुई भी दिखाई देने लगीं, किन्तु उनमें ममता ज्यों की त्यों बनी हुई थी। सबसे अधिक चिन्ता उसे अपनी प्यारी पुरंजनी की थी। अब वह बार-बार सोचने लगा— देखो, मुझे तो उस पुरी को छोड़ना ही होगा, किन्तु मेरे पीछे इस मेरी प्यारी पत्नी की क्या दशा होगी? अब तक तो यह निश्चिन्त थी। मेरे न रहने पर इसे नाना चिन्तायें आकर घेर लेंगी। अभी बच्चे छोटे हैं उनका लालन पालन कैसे करेगी, कुछ कन्यायें अभी विवाह के योग्य हैं, उनके लिये वर ढूँढ़ने कहाँ जायगी, आज कपडे नहीं, लत्ते नहीं, छाते नहीं, जूते नहीं, किससे मँगा येगी। कहाँ से द्रव्य लावेगी, कौन इसकी देख रेख करेगा। आज तक कभी मुझे छोड़कर कहीं गई नहीं, संसार का व्यवहार जानती नहीं। छल, कपट, धूर्तता यहाँ संसार में फैला है, इसे यह अन-भिज्ञ है। मुझसे कितना प्यार करती थी, सदा डरती रहती थी। मेरे बिना भोजन किये भोजन नहीं करती थी। मुझे जब तक स्नान न करा ले स्वयं स्नान नहीं करती थी। यद्यपि अब वह पुत्र पौत्र तथा प्रपौत्रे वाली बन गई किन्तु मेरे सामने सदा भयभीत ही बनी रहती थी। मैं तनिक झिड़क देता था, तो थर-थर काँपने लगती थी। वह माता के समान प्यार से भोजन करातीं, मन्त्री के समान सदा शुभ सम्मति देती रहती, मित्र के समान सदा

हित में रत रहती। कामधेनु के समान सदा सभी भोग की सामग्रियों से मुझे सतुष्ट करती रहती। जब कभी मैं किसी कार्यवश परदेश चला जाता, तो विरह व्यथा में व्यथित हुई अत्यन्त दुर्बल बन जाती, प्रत्येक कार्य में वह मेरा मुँह जोहती रहती। अब वह मेरे बिना गृहस्थी की गाड़ी को कैसे चलावेगी, कैसे इस बोझ से भरी बडी गाड़ी को आगे बढ़ावेगी। कैसे पुत्र पौत्र और प्रपौत्रों का पालन-पोषण करेगी। मुझे सबसे अधिक चिन्ता इसी की है। मुझे धन की उतनी चिन्ता नहीं, स्वजनों का उतना अनुराग नहीं, और पदार्थों में उतना मोह नहीं। समस्त सामग्रियों में उतना आकर्षण नहीं। मुझे जो चिन्ता है, वह इसी अबला की है। अपनी सहचरी धर्मपत्नी और चिरसंगिनी की विरह व्यथा से ही मैं अत्यन्त व्यथित हूँ।"

नारदजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार दीन मलीन हुआ पुरंजन अपनी प्यारी पत्नी की ही प्रति पल चिन्ता करने लगा, उसी के शोक में संतप्त हो उसी के ध्यान में मग्न रहने लगा। वह मूर्ख यह भूल गया था कि मुझे अपने लिये भी कुछ शोक करना चाहिये। वास्तव मे अत्यन्त सोचयीय तो वही था, जिसने नर तनु पाकर भी परलोक की चिन्ता नहीं की, प्रभु पादपद्मों में प्यार नहीं किया।"

जब प्रज्वार ने पुरी को जला दिया तो यवनो के स्वामी भय देव वहाँ आ गये। उन्होंने पुरंजन को कसकर बाँध लिया और उसे लेकर अपनी राजधानी में चले। पुरंजन को विवशतापूर्वक जाते देखकर उसके स्वामिभक्त सेवक भी उदास मन होकर उसके पीछे-पीछे चले। यवनों ने जिस पाँच फन वाले घायल हुए सर्प को रोक रखा था, वह भी सर से पुरी से निकल भागा, उसके निकले ही पुरी छिन्न भिन्न हो गई। मिट्टी मिट्टी में मिल गई, कार्य कारण में विलीन हो गया। पुरंजन की सहायता करने

वाला कोई भी न निकला। जिन्हें अपना कहता था, उन सबने साथ नहीं दिया। एक उसका अज्ञात नाम मित्र था, उसका स्मरण करता, तो वह उसकी इस संकट से रक्षा कर भी सकता था किन्तु उसे तो वह सर्वथा भूल ही गया था। अतः यवनों द्वारा बलपूर्वक ले जाया गया। परलोक में जाकर जिन पशुओं को उसने काटा था, वे उसे काटने लगे। अब राजा पुरंजन की पुरी तो छिन्न-भिन्न हो गई, किन्तु वह अपनी प्यारी पत्नी को न भुला सका, उसी का निरन्तर ध्यान करता रहा।

नारदजी कहते हैं—"राजन्! अन्त में मनुष्य जिसका ध्यान करते हुए मरता है, वह दूसरे जन्म में उसी को प्राप्त होता है। पुरजन अपने स्त्री का ही ध्यान करते-करते मरा था, अतः वह दूसरे जन्म में स्त्री ही हुआ।"

इस पर राजा बोले—"महाराज! पुरंजन स्त्री कैसे हुआ! स्त्री बनकर उसने क्या-क्या कार्य किया। इसे सुनने की मेरी बड़ी इच्छा है, कृपया पुरंजन की स्त्री जन्म के उपाख्यान को और सुनावें।"

इस पर नारदजी ने कहा—"राजन्! यह कथा बड़ी ही रोचक और शिक्षाप्रद है। उसे मैं सुनाता हूँ, आप ध्यानपूर्वक सुनें।" यह कहकर नारदजी आगे की कथा कहने को उद्यत हुए।"

छप्पय

*यवनराज भय आइ पुरजन बाँध्यो तबई।*
*पकरि चले लै भृत्य भये सँग परवश सबई॥*
*जात पुरंजन लख्यो सर्प करि स्याँप सिधार्यो।*
*सब सैनिक उद्दंड पुरंजन पुरकूँ जार्यो॥*
*यह वियोग दुःसह प्रिये, नहीं जात मोपै सह्यो।*
*नारी की चिन्ता करत, अन्त नारि भूपति भयो॥*

# पुरञ्जन का स्त्री-योनि में जन्म

[ २६५ ]

तामेव मनसा गृह्णन्बभूव प्रमदोत्तमा ।
अनन्तरं विदर्भस्य राजसिंहस्य वेश्मनि ॥*
(श्रीमा० ४ स्क० २८ अ० २८ श्लोक)

छप्पय

*नारीमहँ चित फँस्यो भयो नृप नरतें नारी ।*
*नृप विदर्भ के महल, भई कन्या सुकुमारी ॥*
*भई सयानी पिता स्वयंवर साज सजाये ।*
*रूप ख्याति सुनि देश देश के नरपति आये ॥*
*पाण्ड्य देश के छत्रपति, मलयध्वज कन्या वरी ।*
*पति पायो प्रमुदित भई, पटरानी नृप ने करी ॥*

मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही हो जाता है। 'अन्ते या मतिः सा गतिः' यह लोकोक्ति सत्य ही है। अन्त में जिसकी चिन्ता करते-करते मरेंगे, दूसरे जन्म में वही प्राप्त होगा। गृह, द्वार, कुटुम्ब-परिवार, धन, स्त्री जिसमें भी अधिक ममता होगी, अन्य जन्म में किसी न किसी रूप में वे ही मिलेंगे। चित्र-यन्त्र के सामने कितनी ही आकृतियाँ आती हैं सभी अंकित नहीं हो

---

* नारदजी कहते हैं—"राजन् ! राजा पुरञ्जन उसी अपनी स्त्री का अन्त में चिन्तन करते हुए मरने से राजसिंह विदर्भ के घर में बड़ी सुन्दर कन्या के रूप में उत्पन्न हुआ।"

जाती। अंकित वही होती है, जो बटन दबाते समय उसके सम्मुख होती हैं। इसी प्रकार मरते समय जिसकी चिन्ता रहेगी, वही होना पड़ेगा। मरकर पुण्यात्मा स्वर्ग के सुखों को भोगने जाते हैं, पापात्मा नरकों की यातना भोगने जाते हैं। पुण्य समाप्त होने पर कुछ पुण्य शेष रहने पर उन्हें फिर पृथ्वी पर जन्म लेना पड़ता है, इसी प्रकार पापों का फल भोग लेने पर नरक से भी कुछ पाप शेष रहने पर जीव पृथ्वी पर भेज दिया जाता है। जिनके पाप पुण्य प्रायः समान होते हैं, वे नरक स्वर्ग न जाकर फिर मनुष्य योनि में उसी समय जन्म धारण कर लेते हैं। जब तक भगवान में ध्यान नहीं लगता, यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तब तक यह आवागमन का क्रम चौरासी का चक्कर लगा ही रहता है।

नारदजी कहते हैं "राजन्! पुरंजन ने पछिताते हुए अत्यन्त दुःख के साथ प्राणों का परित्याग किया। उसने यज्ञादिक कर्म किये थे, अतः स्वर्ग में गया। वहाँ भी वे यज्ञीय पशु अपना बदला लेने बैठे थे, उन्होंने उससे अपना बदला लिया। यातना शरीर को कष्ट पहुँचाया। उन सब भोगों को भोगने के अनन्तर स्त्री की चिन्ता करते-करते मरा था। अतः स्त्री योनि में जन्म लेना पड़ा। रानी का ही ध्यान रहा। अतः राजा विदर्भ की राज महिषी के गर्भ से राजकुमारी के रूप में प्रकट हुआ। अब पूर्वजन्म की सब बातें भूल गया अब तो अपने को लड़की ही समझने लगा। पहिले कहता था 'मैं जाता हूँ आता हूँ' अब कहने लगा—'मैं जाती हूँ, आती हूँ, खाती हूँ, पीती हूँ।" पुराना राजमद भूल गया, स्वयं ही साज शृङ्गार करने लगा। शनैः शनैः शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान वह सुकुमारी राजकुमारी बढ़ने लगी। अब तो उसकी चाल में चञ्चलता आ गई। दृष्टि में बाँकापन, अङ्ग-अङ्ग में सिहरन, शरीर से यौवन मद फूट-

फूटकर निकलने लगा। आँखों से झाँककर युवावस्था कुछ रहस्य-मय संकेत करने लगी। माता-पिता को चिन्ता हुई, देश-देश के राजकुमारों के समीप सम्वाद भेजा कि हमारी लडकी का स्वयंवर है, जो बल पराक्रम में सबसे श्रेष्ठ सिद्ध होगा, उसी के साथ मैं अपनी कन्या का विवाह कर दूँगा। मेरी कन्या का शुल्क वीर्य ही है। पराक्रम के द्वारा ही जीती जा सकती है, मेरी त्रैलोक्य सुन्दरी कन्या का पति भुवन विख्यात शूरवीर ही हो सकता है।"

कन्या के रूप, शील, यौवन और सद्गुणों की ख्याति सुन-कर उसे पाने के लोभ से देश-देश के हजारों राजकुमार उसी प्रकार आये, जिस प्रकार दीपक की लोय को देखकर पतिंगे दौड़े आते हैं। अपना-अपना बल पराक्रम दिखाने को उन सबमें संघर्ष हुआ, युद्ध हुआ। सभी को पांड्य देश के राजा ने जीत लिया, वे सबसे श्रेष्ठ शूरवीर सिद्ध हुए। अतः उन्हीं के साथ विदर्भ-नन्दिनी का विवाह हुआ। अब तो वह कजीली कटीली आँखों में काजल लगाकर घूँघट की ओट से पांड्य नरेश पर चोट करने लगी। दोनों बड़े प्रेम से एक दूसरे को प्यार करने लगे। क्षण भर का वियोग भी एक दूसरे को असह्य हो जाता, दोनों एक दूसरे को पाकर संसार को भूल गये। समय पाकर उस विदर्भ कुमारी के गर्भ से एक कन्या रत्न का जन्म हुआ। उसकी काली-काली आँखें बड़ी ही मनमोहक थीं, अतः उसका नाम रखा गया 'असितेक्ष'। उस कन्या के जन्म के अनन्तर क्रमशः उसके ७ पुत्र और हुए। बड़े शूरवीर, प्रतापी और पर पुण्य थे। वे सातों द्रविण देश के राजा हुए। उन सातों के इतने पुत्र हुए कि उनकी गणना करना असम्भव है। यों समझिये कि उनके पुत्र, पौत्र और प्रपौत्रों से ही पृथ्वी भर गई और मन्वन्तर पर्यन्त उनके ही वंशज इस सप्तदीपवती पृथ्वी को भोगते रहे।

महाराज मलयध्वज की जो सबसे बड़ी प्रथम पुत्री थी उसका विवाह भगवान् अगस्त्य ऋषि के साथ हुआ। वह राजकुमारी से ऋषिपत्नी हो गई। उसके गर्भ से एक सर्वलक्षण सम्पन्न दृढ़च्युत नामक पुत्र हुआ। उस दृढ़च्युत का पुत्र इध्मवाह हुआ। इस प्रकार उसके पुत्र और पुत्री का वंश आगे पृथ्वी पर विख्यात हुआ।

महाराज मलयध्वज बड़े धर्मात्मा थे। जब उन्होंने देखा कि वृद्धावस्था घात लगाये बैठी है और धीरे-धीरे मेरे शरीर पर अधिकार जमाकर मुझे विषयभोग तथा राजसुखों से हटाना चाहती है, तो उन्होंने सोचा—"विवश होकर क्यों छोड़े। एक दिन जब इन सब राज, कोष, गृह, संसारी सुखों को त्यागना ही है तो स्वेच्छा से इनका त्याग क्यों न कर दें। हटाने के लिये विवश करने के पूर्व ही स्वेच्छा से हम क्यों न हट जायँ।" यही सब सोच समझकर महाराज मलयध्वज ने अपना समस्त राज्य यथाधिकार सातों पुत्रों को बाँट दिया। राज्यभार पुत्रों के कंधों पर रखकर वे आनन्दकन्द नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र के चरणारविन्दों की आराधना करने के निमित्त नगर को छोड़कर वन के लिये चल दिये।

अपने पति को वन की ओर जाते देखकर विदर्भ-नन्दिनी भी उनके प्रेम पाश में बँधी हुई उनके पीछे-पीछे हो लीं। पांड्य नरेश महाराज मलयध्वज ने जब देखा कि मेरी धर्मपत्नी, जैसे चन्द्रिका चन्द्रमा का अनुसरण करती है, उसी प्रकार यह मेरा अनुसरण कर रही है, उसने घर, पुत्र, परिवार, समस्त विषय भोगों को तिलांजलि दे दी है तो उन्होंने उसके मार्ग में रोड़े नहीं अटकाये, उसे साथ चलने से रोका नहीं। वे दोनों राजा-रानी परम पवित्र तपोभूमि कुलाचल पर्वत के निकट जहाँ ताम्रपर्णी, अवरोदा और चन्द्रमसा नाम की तीन नदियाँ थीं, वहाँ अपनी

एक पर्णकुटी बनाकर तपस्या में निरत रहने लगे। वे नित्य ही तीनों नदियों के पापहारी जल में स्नान करके अपने भीतर और बाहर के मलों को धोने लगे।

वन में रहकर वे कन्द, मूल, फल, फूल, दूब, पत्ते आदि खाकर अपने शरीर का निर्वाह करने लगे। दोनों मुनियों के समान रहते, कठोर तप करते, किसी की हिंसा नहीं करते थे। मौन रहते थे नित्य ही भगवान् की आराधना में अपने समय को बिताते हुए कालक्षेप करने लगे। इस प्रकार तपस्या करते-करते, सुख, दुःख, हानि, लाभ, प्रिय, अप्रिय, क्षुधा, पिपासा आदि द्वन्द्वों को उन्होंने जीत लिया। वे निर्द्वन्द हो गये। जब निर्द्वन्द और समदर्शी भाव स्थिर हो गये तब तपस्या, ज्ञान, यम, नियम, आसन प्राणायाम ध्यान-धरणा और समाधि आदि योगाङ्गों के द्वारा समस्त वासनाओं पर विजय प्राप्त कर ली। वासनाओं पर विजय प्राप्त होने से इन्द्रिय प्राण और मन अपने आप ही बस में हो गये। अब फिर क्या था। चित्त जब तक विषय वासनाओं में फँसा रहता है तभी तक मलिन होकर इधर-उधर संसार में भटकता रहता है। जहाँ वह वासनारहित हुआ वहाँ ब्रह्म में तन्मय हो जाता है। ब्रह्म में लीन होने पर जगत् का अभाव हो जाता है। इस प्रकार सौ वर्ष पर्यन्त महाराज बिना हिले डुले स्थाणु ठूँठ की भाँति निश्चल समाधि में मग्न रहे। वे भगवान् वासुदेव के ध्यान में इतने तल्लीन हो गये कि उन्हें भगवान् के सिवाय अन्य किसी भी वस्तु का भान ही न रहा।

जिस प्रकार दीपावली के दिन सब ओर से प्रकाश ही प्रकाश आता हुआ दिखाई देता है, उसी प्रकार महाराज मलयध्वज के अन्तःकरण में दशों दिशाओं से ज्ञान का प्रकाश आने लगा। उस महान प्रकाश में वे गुरुओं के भी गुरु भगवान् वासुदेव

के ही दर्शन करने लगे, उन्हीं की अमर वाणी उन्हें सुनाई देने लगी, उनका ही दिव्य उपदेश उनके अन्तःकरण में प्रस्फुटित होने लगा। वे इस दृश्यजगत् को स्वप्नप्रयत्न के समान समझ कर अपने को सम्पूर्ण उपाधियों से रहित मानकर आत्मा को परब्रह्म में तथा परब्रह्म को आत्मा में मनाने लगे। उनका भेद-भाव नष्ट हो गया। अब उन्होंने उस वृत्ति को भी त्याग कर दिया, जिसके द्वारा अभेद चिन्तन करते थे। सारांश यह कि द्वैत-अद्वैत दोनों से पृथक् होकर वे सर्वथा शान्त हो गये। आनन्द सागर में मग्न हो गये। उनका भेद, अभेद, भेदाभेद भाव सर्वथा विलुप्त हो गया।

महाराज की तो ऐसी उच्चावस्था थी, किन्तु पतिपरायणा विदर्भनन्दिनी अपने सम्पूर्ण शारीरिक सुखों को त्याग कर निरन्तर अपने पति रूप परमात्मा की परिचर्या में ही लगी रहती थी। उसने घर से चलते ही राजसी दिव्य वस्त्राभूषणों का त्याग कर दिया था। व्रत के क्लेशों को सहती हुई वह मुनि पत्नियों के समान रहने लगी। उसके शरीर पर वल्कल वस्त्र शोभित हो रहे थे। तैलादि स्निग्ध पदार्थ न लगाने से सम्पूर्ण अंग रूखे-रूखे काले और कठोर बन गये थे। निरन्तर व्रत उपवासों को करते-करते उनका सुकुमार शरीर कृश हो गया था, सिर के सम्पूर्ण बाल कंघी आदि न करने से चिपटकर जटा के रूप में बन गये थे। वह तपस्विनी अव्यग्र भाव से बड़ी तत्परता के साथ पति की सेवा में सदा संलग्न रहती थी।

नारदजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार पूर्वजन्म का पुरंजन इस जन्म में स्त्री होकर पति की परिचर्या के प्रभाव से शुद्ध हो गया। यह ज्ञान का अधिकारी बन गया। अब जिस प्रकार उसे ज्ञान प्राप्ति हुई उसे मैं आपसे कहूँगा। अब कथा का सार

सिद्धान्त आवेगा। अतः चित्त को इधर-उधर चलायमान न होने दें।"

छप्पय

*सात पुत्र इक सुता जनी सब भये सयाने।*
*भये सबनि के ब्याह भोग भोगे मनमनाने॥*
*मलयध्वज दै सुतनि राज गमने वन माहीं।*
*वैदरमी सँग चली देह सँग ज्यों परछाहीं॥*
*विषय भोग त्यागे नृपति, तप करि नित तनकूँ कसहिँ।*
*कन्द मूल फल फूल तृन, करि अहार वनमहँ बसहिँ॥*

# पुरञ्जन को स्त्रीयोनि में हंस द्वारा ज्ञान

## ( २९६ )

तत्र पूर्वतरः कश्चित्सखा ब्राह्मण आत्मवान् ।
सान्त्वयन्वल्गुना साम्ना तामाह रुदतीं प्रभो ॥*
(श्रीभा० ४ स्क० २८ अ० ५१ श्लोक)

### छप्पय

पति सेवा महँ निरत रहै वैदर्भी नितई ।
एक दिना निर्जीव देह पतिकी उत चितई ॥
स्वामि शोकमहँ बिलखि, काठि चुनि चिता बनाई ।
मृतक देह धरि सती होनकूँ आगि लगाई ॥
पुरुष पुरातन को तबहिँ, दरशन रानी कूँ भयो ।
रोवति निरखी नारि तिन, दिव्य ज्ञान ताकूँ दयो ॥

भगवान् सर्व व्यापक हैं । वे घट-घट में व्याप्त हैं । जहाँ भी चित्त एकाग्र हो जाय, जिसमें भी भगवत् बुद्धि हो जाय, वहीं श्रीहरि प्रकट हो जाते हैं । अग्नि सर्व व्यापक है, जहाँ भी दो लकड़ियों का सावधानी से श्रमपूर्वक मन्थन किया जाय, वहीं अग्नि उत्पन्न हो जाती है और समस्त उपाधियों को भस्म करके

---

* नारदजी कहते हैं—"राजन् ! जब विदर्भनन्दिनी अपने पति के साथ सती होने का विचार कर रही थी, तो उसी समय उसके पूर्वजन्म का कोई पुराना मित्र आत्मज्ञानी ब्राह्मण वहाँ आया और उस रोती हुई वैदर्भी को मीठी वाणी से समझाते हुए कहने लगा ।"

फिर अपने सत् स्वरूप में विलीन हो जाती है। आवश्यकता है एकाग्रता की तन्मयता की। जहाँ चित्त शुद्ध में तल्लीन हुआ तो उसकी चञ्चलता मलिनता मिटकर ब्रह्मरूप हो जाती है। इसीलिये शास्त्रों का सिद्धान्त है, मन ही मनुष्य के बन्धमोक्ष का कारण है, विषयासक्त मन बन्धन को बढाता है, शुद्ध हुआ मन सच्चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त कराता है।

नारदजी कहते हैं—"राजन्! जब महाराज मलयध्वज योगाभ्यास करते-करते ब्रह्म में लीन हो गये, तब उनका मृतक शरीर वहाँ का वहीं स्थिर रहा। रानी समझ रही थी, मेरे पति समाधि मग्न हैं। वह उस रहस्य को न समझ सकी। सदा की भाँति उनकी सेवा करती रही।

एक दिन रानी ने देखा, महाराज के शरीर में पहिले जैसी उष्णता नहीं है। समाधि में तल्लीन होने पर भी उनके मुखमण्डल पर कान्ति छिटकती रहती थी पैरों में और मस्तक में उष्णता प्रतीत होती थी। केश और नख भी बढ़ते थे। किन्तु महारानी ने देखा अब पति के मुख मंडल पह तेज नहीं, म्लानता छायी हुई है। पैरों को देखा तो उनमें उष्णता नहीं वे शीतल हैं। सिर पर हाथ रखा तो वहाँ भी जीवन के कोई चिह्न नहीं। रानी को अब निश्चय हो गया कि मेरे प्राणपति सदा के लिये इस असार संसार को त्याग गये। यह उनका प्राणहीन मृतक शरीर है। अब क्या हो सकता है, रानी का धैर्य छूट गया, वह बिलखबिलख कर रोने लगी। यूथ से भटकी मृगी की भाँति वह उदास मन से विलाप करने लगी। अपने नयनों के नीर से वक्षःस्थल को भिगोती हुई वह अपने करुण क्रंदन से दिशाओं को गुंजाने लगी। वह महाराज के मृतक शरीर को हिलाती हुई बार-बार पछताती हुई कहने लगी—"महाराज! आपने तो कहा था, मैं तेरा सदा भरण-पोषण करूँगा। फिर आप मुझ दीना को यहाँ

वन में त्यागकर अकेले ही स्वर्ग क्यों सिधार गये ? आप इस भूमि का आलिङ्गन करके बैठे हैं, मुझे स्पर्श क्यों नहीं करते ? आप मेरे पति हैं और इस भूमि के भी पति हैं। मुझसे कोई अपराध बन गया हो, जिसके कारण आप मेरी रक्षा नहीं करते, तो अपनी इस पत्नी पृथ्वी का तो पालन करें। देखिये, इस पर दस्युओं ने आतंक जमा रखा है। राजन् ! अब आप उठें। मुझ को सनाथ बनावें।"

इस प्रकार वैदर्भी भाँति भाँति से विलाप करती रही। पति के बिना उसे चारों ओर अंधकार ही अंधकार दिखाई देने लगा। वह बार-बार अपने पति के पाद पद्मों में पड़ जाती, रोती बिलखती हुई पछाड़ खाती, फिर उठकर इधर-उधर देखती रही। अंत में निराश होकर उसने धैर्य धारण किया। अपने आपको समझाया। वन में इधर उधर से सूखी लकड़ियाँ इकट्ठी की और उनसे चिता बनाकर उसपर अपने पति के मृतक शरीर को रखा। फिर आग लगाकर चिता की परिक्रमा करके ज्योंही उसने अपने शरीर को भी पति के साथ जलाने का विचार किया, त्योंही उसे दूर से एक मधुर वाणी सुनाई दी। देवि ! ऐसा दुस्साहस मत करो। तनिक ठहरो, मेरी बात सुन लो तब तुम्हें जो कुछ करना हो वह करना।"

वैदर्भी ने इधर- उधर आश्चर्य के साथ देखा कि इतने स्नेह से इतनी ममता के साथ मुझे कौन मना कर रहा है। उसी समय उसे सामने से एक तेज पुंज वृद्ध ब्राह्मण पुरातन पुरुष आते हुए दिखायी दिये। उनका मुख मंडल दिव्य प्रकाश से व्याप्त था, वे मन्द-मन्द मुस्करा रहे थे, द्रुतगति से इसी ओर आ रहे थे। उन्हें आते हुए देखकर रानी सहम गई। उनके तेज के सम्मुख उसे कुछ कहने का साहस नहीं हुआ और न उनकी आज्ञा को उल्लङ्घन करने की शक्ति ही उसमें रही। वह केवल हाथ जोड़े

हुए निर्निमेष दृष्टि से उन महात्मा को देखती की देखती ही रह गई।

महात्मा ने अपनी अत्यन्त सुमधुर गम्भीर वाणी में उसे समझाते हुए कहना आरम्भ किया।

ब्राह्मण बोले—"तुम कौन हो ?"

हाथ जोड़कर रानी ने कहा—"देव ! अबला इन राजर्षि की चिरसंगिनी धर्मपत्नी हूँ।"

ब्राह्मण ने फिर पूछा—"तुम किसकी पुत्री हो ?"

दीनता के स्वर में रानी ने कहा—"हे विप्रवर ! राजसिंह विदर्भराज की प्यारी पुत्री हूँ।"

ब्राह्मण ने कहा—"यह पुरुष जो तुम्हारे सम्मुख सोया हुआ है वह कौन है ? तुम इस प्रकार दुखी क्यों हो रही हो ? किसके लिये ऐसा विलाप कर रही हो ?"

रानी ने कहा—"ये मेरे प्राणनाथ जीवनाधार पाण्ड्य देश के स्वामी मुझ अभागिनी अबला के पति हैं। ये अपना राज्य पाट छोड़कर यहाँ वन में तपस्या करने आये थे। यहाँ मुझे छलकर ये अकेले परलोक पधार गये, मैं भी इन्हीं के पथ का अनुसरण करूँगी। इन्हीं के पद चिन्हों को खोजती हुई परलोक में इनके साथ निवास करूँगी।"

यह सुनकर हँसते हुए उन ब्राह्मण ने कहा—"क्या तुम मुझे जानती हो ?"

हाथ जोड़कर रानी ने कहा—"नहीं, भगवन् ! मैंने तो इसके पूर्व आपके कभी दर्शन किये नहीं थे।"

अपनी हँसी को रोकते हुए ब्राह्मण देव ने कहा—"अरे, तुम मुझे भूल गईं ? मैं तुम्हारा मित्र हूँ।"

यह सुनकर कुपित होकर रानी बोली—"देखिये, महाराज ! आप वाणी को सम्हाल कर बोलिये। पतिव्रताओं का अपने पति

को छोड़कर दूसरा कोई भी मित्र नहीं होता, मित्र की तो बात ही क्या वे पर पुरुष की ओर दृष्टि उठाकर भी नहीं देखतीं।"

यह सुनकर ब्राह्मण हँसे और बोले—"अरे, तुम तो मित्र! अपने को सर्वथा भूल ही गये। पहिले तो तुम मेरे सदा संग रहते थे। मेरे ही साथ सर्वथा विचरण किया करते थे। अब अपने को स्त्री मानकर 'मैं नहीं जानती' ऐसे कहने लगे हो?"

चौंककर रानी ने कहा—"महाराज! मुझे तो कुछ स्मरण आता नहीं।"

ब्राह्मण ने कहा—"देखो, मेरा नाम अविज्ञात है, हम तुम दोनों ही साथ रहने वाले मानसरोवर के हंस थे। एक बार तुम्हारी इच्छा हुई कि मैं पृथ्वी के भोगों को भोगूँ। देखें उनमें कैसा सुख है। मैंने तुमसे बहुत मना भी किया, किन्तु तुम माने ही नहीं। चले गये और इस चक्कर में फँसकर हंस से कौआ बन गये। निर्मल से समल हो गये।"

रानी ने कहा—"अभी तक तो महाराज! मुझे ध्यान आया नहीं।"

ब्राह्मण गम्भीरता के साथ बोले—"अरे, भाई! ध्यान कैसे आवे, तुम तो कारे मूंड वाली के चक्कर में फँस गये थे। बात यह थी कि हम तुम दोनों बड़े ही स्वच्छ, निर्मल और देदीप्यमान थे। मानसरोवर के निर्मल जल में शुद्ध स्वभाव से विचरण करते और किलोलें किया करते। किसी कारण से तुम्हारे सिर पर भूत सवार हो गया। तब हम सहस्रों वर्ष बिना किसी निवास स्थान निर्द्वन्द्व आश्रयहीन होकर स्वच्छन्द विचरते थे। तुम आश्रय की खोज में मुझसे मुख मोड़कर नाता तोड़कर पृथ्वी पर विचरने लगे और नाना नगरों को देखते भालते एक नवद्वार वाली सुन्दर पुरी में पहुँच गये। वह नगर किसी स्त्री का रचा

हुआ था। तुम्हारा मन लुभा गया। तुम उस महरारू के फन्दे में फँस गये।"

रानी ने पूछा—"महाराज ! कैसा नगर ?"

ब्राह्मण हँस पड़े और बोले—"अब सब भूल गये तुम देवताजी ! उस नगर में ५ बगीचे, ९ द्वार, एक द्वार रक्षक, तीन पर कोटे, ६ इच्छित वस्तुओं के देने वाले वैश्य, ५ बाजार और ५ उपादान कारण थे। उसकी एक परम शक्तिमती स्वामिनी थी, उसका नाम बुद्धिदेवी था। ऐसे नगर में जब तुम घुस गये, तो तुम अपने आपको भूल गये। तुम उस नगरी की स्वामिनी पर मुग्ध हो गये, उसके साथ आनन्द विहार करने लगे। उसी की निरन्तर संगति से तुम इस दशा को प्राप्त हो गये। पुरञ्जनी के पति होकर आज तुम एक राजा को अपना पति मान रहे हो ? पुरुष से स्त्री अनुभव कर रहे हो।"

यह सुनकर अब तो रानी की आँखें खुलीं। उसने सावधान होकर कहा—"तो भगवान्, मैं वैदर्भी नहीं हूँ ?"

ब्राह्मण बोले—"महाभाग ! न तो आप निदर्भराज की प्यारी पुत्री ही हैं, और न जो यह सामने मृतक देह पड़ी है, वह मलयध्वज तुम्हारा पति ही है।"

रानी ने कहा—"यदि स्त्री नहीं तो पुरुष हूँगा। इसकी पत्नी न सही, जिस पुरंजनी का आप नाम बता रहे हैं, उसका पति हूँगा।"

ब्राह्मण बोले—"न तुम रानी न राजा, न मलयध्वज की पत्नी न पुरजनी के पति। न तुम स्त्री न पुरुष न नपुसक। तुम स्वच्छ निर्मल ममता से रहित हंस हो।"

अब तो उसको चेत हुआ। उसने पूछा—"महाराज ! आप कौन हैं ?"

ब्राह्मण वेषधारी हंस ने कहा—"मैं भी हंस हूँ, तुम भी हंस

हो। हम तुम सगे भाई-भाई हैं। भाई-भाई क्या एक ही हैं। हम तुम में कोई भेदभाव नहीं, कोई अन्तर नहीं कोई द्वैत नहीं। जो तुम हो, वह मैं हूँ, जो मैं हूँ, वह तुम हो। तुम मुझसे अन्य नहीं, मैं तुम से पृथक् नहीं। समझे कुछ ?"

उसने कहा—"क्या समझे महाराज ! आप तो बड़ी गोल-मोल-सी बातें कर रहे हो। हम आप दो होकर एक कैसे हैं, यह बात मेरी समझ में आती नहीं।"

ब्राह्मण गम्भीरता के साथ कहने लगे—"हे मित्र ! जो तुम हो वह मैं हूँ। जो मैं हूँ, वह तुम हो। इस बात का पुनःपुनः निश्चय करो, हंसो हंसो हंसो हंसो बार-बार रटो। हंसो हंसो रटते-रटते सोऽहं हो जायगा। तब तुम्हें बोध हो जायगा। वह मैं ही हूँ। वह मुझसे भिन्न नहीं है। भेद तो उपाधि कृत है बुद्धिमान पुरुष उपाधि को नहीं देखते। किसी काल में भी वे हम में और तुम में भेदभाव का अनुभव नहीं करते।"

उसने पूछा—"यह जो प्रत्यक्ष दो दिखाई दे रहे हैं, उसे एक कैसे समझें ?"

ब्राह्मण बोले—"यह तो सीधी-सी बात है। देखो, पुरुष जब दर्पण लेकर उसमें अपना मुख देखता है, तो कैसा सुन्दर स्वच्छ और बड़ा दिखाई देता है। उसी समय पास में बैठे पुरुष की आँखों की पुतलियों में अपना रूप देखता है, उसमें छोटा-सा रूप देखता है। दर्पण और आँख की पुतली में दीखने वाला प्रतिबिम्ब एक ही का बिम्ब है। दर्पण वाला पुरुष और पुतली वाला पुरुष दोनों भिन्न-भिन्न दीखने पर एक ही के प्रतिबिम्ब हैं। उनमें तत्वतः कोई भेद नहीं। जिस प्रकार दर्पण और पुतली के पुरुष में अन्तर है उसी प्रकार हम दोनों में भी अन्तर समझना चाहिये।"

नारदजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार उस पुरातन पुरुष

हंस ने अपने बिछुड़े हुए हंस को जब अपना सच्चा स्वरूप स्मरण कराया तो वह स्वस्थ हुआ। उसे आत्मज्ञान की उपलब्धि हुई। वह स्त्रीपन को भूल गया। अपने पति के वियोग दुःख को भूल कर वह आनन्द में निमग्न हो गया।"

नारदजी की इस कथा को सुनकर महाराज प्राचीनबर्हि ने पूछा—"फिर महाराज ! क्या हुआ ?"

नारदजी ने कहा—"भाई, होना था सो हो गया। अब क्या हुआ। नमक, क्षारसमुद्र, की थाह लेने गया था, उसी में घुलकर एक हो गया। जमा हुआ पानी पिघल कर मिलकर फिर पानी का पानी हो गया। जब तक बहू दूर थी, दुलहा दूर था, तब तक इसे बुला, उसे बुला। बाजे लाओ, पालकी लाओ। वे बड़े बूढ़े हैं, वे बरात में न चलेंगे तो कैसे विवाह होगा। पचासों झंझट हैं। जहाँ ७ बार अग्नि के चारों ओर गाँठ बाँध कर दोनों फिरे कि सब समाप्त हो गया। दूल्हा दुलहिन मिल गये। एक दूसरे ने परस्पर में हाथ पकड़ लिया। अब बरात कहीं जाओ, पण्डितजी अपनी पोथी पत्रा बाँधकर चले जायँ। खेल समाप्त हो गया। अपना अपने से मिल गया। यह गूढ कहानी है राजन् !"

महाराज प्राचीनबर्हि ने पूछा—"यह भगवन् ! कोरी कल्पना ही है या इस कहानी का कुछ तात्पर्य भी है ?"

नारदजी ने कहा—"राजन ! यह साधारण राजा रानी का कहानी नहीं है। इसमें आत्मज्ञान का गूढ तात्पर्य छिपा हुआ है। यह मैंने कहानी के मिससे परोक्ष रूप से गूढ से गूढ अद्वय ज्ञान सुनाया है।"

महाराज प्राचीनबर्हि ने कहा—"महाराज ! यह आपने घुमा फिरा कर ऐसी बातें क्यों कहीं। यह द्रविण प्राणायाम क्यों की ?

यह सरसता का सम्पुट क्यों लगाया ? यह स्त्री पुरुषों की शृङ्गार रस का कल्पना क्यों की ?"

हँसते हुए नारदजी बोले—"देखिये, राजन्! देवता परोक्ष प्रिय बताये गये हैं। रसका आस्वादन जितना गूढ भावों से बिना अंगरी वाणी के व्यक्त किये होता है, उतना सीधी सीधी वाणी में कहने से नहीं होता। हावभाव कटाक्षों में सकेतों द्वारा रस की वृद्धि होती है। प्रेम के अक्षर तो निरर्थक होते हैं, अक्षरों का अर्थ नहीं लगाया जाता। भावों को समझने वाले समझ लेते हैं। प्रेम भाषा से व्यक्त नहीं होता, उसकी अभिव्यक्ति भाव से होती है।"

राजा ने कहा—"भगवन्! मैं तो मूढमति हूँ, आपके इस गूढ ज्ञान के छिपे अभिप्राय को यथार्थ रूप से समझने मे मेरी बुद्धि तो काम देती नहीं। हाँ, बड़े भारी ज्ञान वैराग्य सम्पन्न विवेकी पुरुष सम्भव है, समझ सकें। हम जैसे कर्म विमोहित पुरुषों को इसका स्वयं अर्थ लगा लेना अत्यन्त ही कठिन है। कृपा करके इसका स्पष्ट अर्थ समझाइये। पुरञ्जन कौन, पुरञ्जनी कौन ? नव द्वार की पुरी कौन, हंस कौन, इन सबको स्पष्ट शब्दों में बता दें।"

यह सुनकर नारदजी बोले—"अच्छी बात है, सुनिये राजन्! इसका मैं तात्पर्य आपको समझाता हूँ, ध्यान से सुनें।"

छप्पय

*अरे सखा हौं मित्र तिहारो हंस पुरातन।*
*विषय भोग महँ फँस्यो भुलाओ रूप सनातन॥*
*नहीं पुरंजन मित्र! न रानी राजा हो तुम।*
*मानस के हैं हंस एक ही दोनों तुम हम॥*
*परनारी जा बुद्धि ने, ठग्यो ज्ञान सब नसि गयो।*
*सुनत सखा की सीख शुभ, आत्मज्ञान ताकूँ भयो॥*

# पुरञ्जन कौन ? हंस कौन ?

[ २९७ ]

पुरुष पुरंजन विद्याद्यद्व्यनक्त्यात्मनः पुरम् ।
एकद्वित्रिचतुष्पादं बहुपादमपादकम् ॥
योऽविज्ञाताहृतस्तस्य पुरुषस्य सखेश्वरः ।
यन्न विज्ञायते पुम्भिर्नामभिर्वा क्रियागुणैः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० २९ अ० २, ३ श्लो०)

छप्पय

*राजा पूछें-प्रभो ! ज्ञान अति गूढ़ सुनायो ।*
*कौन पुरञ्जन, हंस, कौन पर समझ न आयो ॥*
*मुनि बोले—यह जीव पुरजन घी है नारी ।*
*सखा कर्ण हैं सबहिँ वृत्ति सब सखी विचारी ॥*
*देह पुरी हरि हंस हैं, प्राण पंच फन स्याँप है ।*
*नौ दरवाजे छिद्र नौ, जीव सङ्ग मन जात है ॥*

यह मनुष्य का सहज स्वभाव है, कि छिपी बात को जानने को उसकी अत्यधिक उत्कंठा होती है। परदे के भीतर क्या है,

---

* नारदजी कहते हैं—"राजन् ! यह जीव ही पुरजन है। यही एक दो तीन चार अथवा बहुत पैर वाले या बिना पैर वाले पुर शरीर रूप पुर को तैयार करता है। जिसे मैंने पुरजन का अज्ञात सखा बताया है। वह ईश्वर है, जिसे पुरुष किसी प्रकार के नाम गुण अथवा कर्मों से जान नहीं सकता।"

इस विषय में जिज्ञासा बढ़ जाती है। वैसे कोई दिन भर बातें करता रहे, ध्यान नहीं जायगा। किन्तु किसी से कान में कोई बात कहो, तो न सुनने पर भी हम मन से ही अटकल पच्चू लगाकर उस बात को जानना चाहते हैं। कितनी स्त्रियाँ मुँह खोले घूमती हैं, उधर ध्यान ही नहीं जाता। किन्तु लम्बे घूँघट वाले बहू के मुख देखने को प्रायः सभी उत्कंठित हो उठते हैं। खुला हुआ मणि मुक्ता पड़ा हो, उधर ध्यान न जायगा, किन्तु सात सात पिटारियों के भीतर चाहे पत्थर का टुकड़ा ही रखा हो, उसे देखने को चित्त चञ्चल हो उठेगा। कैसे भी महात्मा हैं, जहाँ तहाँ घूमते हैं, कोई उनकी ओर ध्यान ही नहीं देता। किन्तु कोई साधारण ही क्यों न हो, सबसे नहीं मिलता, ६ महीने साल भर में दर्शन देता है, उसे देखने को लोगों की भीड़ लग जाती है। क्योंकि लोग रहस्य प्रिय है। छिपी बात को जानने की उत्कंठा स्वाभाविक होती है।

नारदजी कहते हैं—"बर्हिष्मन् राजन्! यह कहानी मैंने रहस्यमयी सुनाई है। आप सब इसका तात्पर्य श्रवण करें। (पुरंजनयतीति पुरजन) जो इस पुर देह को बनावे वही पुरजन है। इसीलिये यह जीव ही पुरजन है। बुद्धि द्वारा सब रचना होती है। अतः यह बुद्धि ही पुरजनी रानी है। देह ही पुरजन की पुरी है। कोई देह एक पैर वाली होता है, जैसे वृक्ष। कोई दो पैर वाली देह होती है, जैसे मनुष्य देह, कोई तीन पैर वाली होती है, जैसे कई कीड़े तीन पैर के होते है। कोई चार पैर की देह होती है, जैसे पशु, कोई बहुत पैर वाली देह, होती है जैसे गिजाई भैसा चींटा मकरी आदि। कोई बिना पैर की देह होती है जैसे सर्प आदि। इन सब पुरियों में जीव सोता रहता है। इसलिये ये सब उसके रहने के स्थान हैं।

पुरातन पुरुष अज्ञात नामक जो ब्राह्मण मित्र बताये हैं, वे

साक्षात् श्रीहरि हैं। सम्पूर्ण प्राणियों के सबसे श्रेष्ठ सुहृद् श्रीहरि ही हैं। उन्हें सुहृद् समझ लेने पर जीव को शाश्वती शान्ति की उपलब्धि हो जाती है। उनको अपने पुरुषार्थ से किसी नाम, गुण या कर्मों द्वारा कोई प्राप्त करना चाहे, तो नहीं प्राप्त कर सकता। वे कृपा साध्य हैं। जिसके ऊपर भी कृपा करें। उनकी कृपा की प्रतीक्षा करना ही जीव का एकमात्र साधन है।

जीव जब इन प्राकृत गुणों को पूर्णतया ग्रहण करना चाहता है, तब वह नाना योनियों में भटकता फिरता है। शास्त्रों में ८४ लाख प्रकार की योनियाँ बताई हैं। ये सब योनियाँ जीव की पुरियाँ हैं। इन सब शरीरों की अपेक्षा यह पुरुष शरीर सबसे श्रेष्ठ माना गया है। इसी शरीर से स्वर्ग जा सकते हैं, नरक मे जाकर दुःख उठा सकते हैं और मोक्ष भी प्राप्त कर सकते हैं। और सब योनियाँ भोग योनियाँ हैं, यह मनुष्य शरीर ही यज्ञादिक कर्म करने मे श्रेष्ठ माना गया है। इस नौ द्वार वाली पुरी में ही जीवरूप पुरंजन सभी विषय सुखों को यथेष्ट रूप से भोग सकता है।

राजा ने पूछा—"महाराज! ९ द्वार कौन से हैं?"

नारदजी बोले—"राजन्! दो आँख के छिद्र, दो नाक के, दो कानों के और एक मुख का ये तो ऊपर के ७ छिद्र हुए, मल और मूत्र के दो नीचे के छिद्र इस प्रकार यह ९ द्वारों की एक पुरी है। जिसमें दो हाथ दो पैर हों वही मनुष्य शरीर है।"

इस देह की रानी पुरंजनी बुद्धि है। बुद्धि के द्वारा ही इस शरीर में इन्द्रियादिकों में और मेरे पन का भान होता है। उसी के आश्रय से पुरुष इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता है। पुरंजनी के पीछे १० मित्र बताये थे। १० इन्द्रियाँ ही इस बुद्धि के मित्र हैं। इन वेश में जो ज्ञान की सम्मति देती हैं, केवल ज्ञान करा

देती हैं, वे तो ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाती हैं; जो बुद्धि के बताये हुए काम को करती हैं, वे कर्मेन्द्रियाँ कहलाती हैं ।

राजा ने पूछा—"भगवन ! इन्द्रियाँ तो सब एक-सी हैं इनमें भेद किस प्रकार है ?"

नारदजी बोले—"राजन ! आप यों समझें ? जैसे आँख, कान, नाक, रसना और त्वचा ये तो ज्ञानेन्द्रियाँ हैं । हाथ, पैर, जीभ, शिश्न और गुदा ये कर्मेन्द्रियाँ हैं । जैसे वाटिका में कोई सुन्दर फूल खिल रहा है । आँखें उसे देखकर बुद्धि को ज्ञान करा देंगी यह सुन्दर फूल है । आँखों का इतना ही काम है, देखकर बता देना । उसे तोड़कर आँखें ला नहीं सकतीं । बुद्धि मन से कहेगी । मन हाथों से कहेगा तब हाथ उसे तोड़कर लावेंगे । नाक बता देगी इसमें ऐसी सुगन्ध है दुर्गन्ध है, इत्यादि । यदि उसमें बुरी गन्ध है तो नाक में यह सामर्थ्य नहीं उसे फेंक दे या तोड़ दे । इस मन से कहेगा, मन बुद्धि से सम्मति लेगा । बुद्धि निर्णय कर देगी, हाँ ठीक, इसे फेंक दो या शैया पर रख दो तो हाथ वैसा ही करेगा । कहीं सामने से अच्छी सुगन्ध आ रही है नाक यह बता देगी कि वहाँ बड़ी अच्छी गन्ध है, चलना चाहिये । परन्तु वहाँ स्वयं चली जाय, इतनी उसमें सामर्थ्य नहीं, नाक बुद्धि से कहेगा, बुद्धि निर्णय करके मन को आज्ञा देगी मन पैरों से कहेगा तब पैर चलकर वहाँ पहुँचा देंगे । मल मूत्र की इच्छा हुई, स्पर्शेन्द्रिय ने सूचना दे दी मल मूत्र त्यागने की इच्छा है । स्वयं स्पर्शेन्द्रिय में सामर्थ्य नहीं मल मूत्र का त्याग कर दे । मन ने सूचना दी, बुद्धि ने आज्ञा दी । तब मन ने पैरों से कहा, आँखों से कहा, हाथों से कहा । पैर चले, हाथों ने लोटा पकड़ा, आँखों ने मार्ग बताया, तब उन शिश्न-गुदा ने मल मूत्र का त्याग किया । कोई भोज्य सामग्री है, आँखें कहती हैं बड़ी सुन्दर वस्तु है खा लो, किन्तु वे बता ही सकती हैं, उठाकर मुँह में नहीं दे

सकती। नाक कहती है सचमुच बड़ी सुगन्धि है किन्तु वकती रहो जब तक बुद्धि मन के द्वारा हाथों को आज्ञा नहीं देती सब व्यर्थ है। बुद्धि ने आज्ञा दी अच्छी बात है पहुँचाओ प्रधान द्वार से उदररूप कोठों में। अब क्या था हाथों ने शीघ्रता से उठाकर मुख रूप अग्निकुण्ड में स्वाहा कर दिया। अब मन वहाँ जिह्वा पर बैठी रसना देवी से पूछता है—कहो कैसी वस्तु है, खट्टी है मिठी है चरपरी है स्वादिष्ट है, बिना स्वाद की है। तब रसना बता देती है, हाँ मीठी है सुन्दर है खाने में योग्य है। इतना कहकर वह चुप हो जाती है। उसमे इतनी सामर्थ्य नहीं कि उसे पेट तक पहुँचा दे। यह जिह्वा का काम है उसे निगल दे या उगल दे। रसना बता देगी यह खाने योग्य है, यह नहीं खाने योग्य है, यह स्वादिष्ट है यह बेस्वाद है। मन बुद्धि से पूछेगा इसे कोठे मे जमा कर दें या फिकवा दें?" बुद्धि जैसी भी आज्ञा देगी मन वैसे ही जिह्वा से करावेगा। थूकने को कहेगा जिह्वा थूक देगी, निगलने को कहेगा निगल जायगी। सारांश यह हुआ कि जो इन्द्रियाँ शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध का ज्ञान कराती हैं वे ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और जो केवल कर्मों को कराती हैं कर्मेन्द्रियाँ हैं।

दस इन्द्रियाँ हैं, उनकी असंख्यों वृत्तियाँ हैं। पीछे जो पुरंजनी की सैकड़ो सखियाँ बताई थीं वे वृत्तियाँ ही उनकी सखियाँ हैं। एक पाँच फन वाला सर्प नगर की रक्षा करने वाला बताया था। वह पंचप्राण ही पाँच फन वाला सर्प है। जब तक शरीर में प्राण हैं तभी तक यह सुरक्षित है। जहाँ प्राणों ने प्रयाण किया, तहाँ जय जय सीताराम हो गई। पीछे दश सखाओं का बृहद्-बल नामक नायक बताया था, सो यह ही दशों इन्द्रियों का स्वामी है। मन के बिना इन्द्रियाँ स्वयं कुछ करने में समर्थ नहीं। आँखो में जब तक मन की वृत्ति न हो तब तक उनमें देखने की सामर्थ्य नहीं हैं। कोई मनुष्य है, उसके सामने से एक बारात निकल

गई। पीछे से एक मनुष्य आया। उसने पूछा—"क्यों जी! यहाँ से बारात गई है ?" वह उत्तर देता है—"जी मुझे तो पता नहीं गई या नहीं।" आगन्तुक पुरुष पूछता है—"क्या आप सो रहे थे ?" वह उत्तर देता है—"जी, नहीं सो तो नहीं रहा था। मेरी आँखें भी खुली थीं, किन्तु मन दूसरी ओर था। मैंने उधर ध्यान ही नहीं दिया। कानों में मन की वृत्ति न आवें तो शब्द होते रहने पर भी सुनाई नहीं देता। इसीलिये मन को सब इन्द्रियों का नायक स्वामी बताया है। यह बड़ा बली है, बड़ा वेगवान है। पवन से भी लाखों गुना तेज चलने वाला है। इसीलिये इसका नाम बृहद्बल कहा गया है।

इस देश का नाम पाचांल क्यों है। ये जो शब्द, स्पर्श, गन्ध, रूप और रस पाँच विषय हैं इन्हीं का इसमें प्राधान्य है। इसीलिये पांचाल अर्थात् पाँच विषय वाला देश है। ९ छिद्र ये ही नौ जीव के आने जाने के द्वार हैं। इन्हीं के द्वारा विषयों को भोगता है। पीछे इन ९ द्वारों के नाम बताये थे। पीछे बताया था कि पुरंजन जब विभ्राजित देश को जाता है तब अपने द्युमान नामक मित्र को साथ लेकर जाता है। उन दोनों द्वारों का नाम खद्योत और आविर्मुखी बताया था। इन दोनों भगोलकों के ही नाम हैं। जब जीवों को देखना होता है तो इन्हीं दो द्वारों से देखता है।

नासिका के जो दो छिद्र हैं इनं द्वारों का नाम नलिनी और नालिनी बताया था। घ्राणेन्द्रिय ही अवधूत नामक मित्र है और नाना भाँति की गन्ध ही सौरभ नामक देश है। जब जीव को सूँघना होता है तो घ्राणेन्द्रिय की सहायता से नासिका से ही सब कुछ सूँघता है।

इस पुर का एक मुख्य द्वार प्रधान फाटक बताया था। यह मुख ही इस पुरी का मुख्य द्वार है। इसमे वाक और रसना दो

इन्द्रिय रहती हैं, इन्हें ही क्रमशः विपण और रसविद् नाम से बताया गया है। जब कुछ बोलना होता है तो वाणी से बोलता है, जब किसी रस का आस्वादन करना होता है, तो रसना के द्वारा करता है। आपण और बहूदन जो देश बताये हैं सो नाना प्रकार की बातें करना वाणी का जितना व्यवहार है वह आपण कहलाता है, और नाना प्रकार के अन्नपानों का उपभोग करना वही बहूदन देश के नाम से कहा गया है।

देवहू और पितृहू नाम के जो दो द्वार ऊपर और बताये थे, वे दायें और बायें कानों के गोलक हैं। दक्षिण पाञ्चाल और उत्तर पाञ्चाल जो दो देश बताये थे, वे निवृत्ति मार्ग और प्रवृत्ति मार्ग ये ही देश हैं। इन द्वारों से श्रुतधर नामक सखा के साथ जाने का उल्लेख किया गया था, सो श्रवणेन्द्रिय ही श्रुतधर नामक मित्र है। पितृयान और देवयान ये ही दो मार्ग हैं।

पीछे बताया था कि नीचे के दो पश्चिम द्वारों में से एक का नाम आसुरी द्वार है, उसमे से पुरञ्जन दुर्मद मित्र के साथ ग्रामक नामक देश को जाता है। सो शिश्न द्वार ही आसुरी द्वार है। स्त्री प्रसङ्ग ही ग्रामक नामक देश है। उपस्थेन्द्रिय ही दुर्मद मित्र हैं, उसके द्वारा विषय रूप सुख का अनुभव करता है। दूसरे नीचे के पश्चिम द्वार का नाम निर्ऋति बताया था, उससे वैशस नामक देश के लुब्धक नामक मित्र के साथ जाना बताया था। सो गुदा ही निर्ऋति नामक द्वार है। नरक ही वैशस नामक देश है, पायु इन्द्रिय ही लुब्धक नामक मित्र हैं। मल त्याग ही इसका विषय है। पीछे दो-दो अन्धे पुरुप बताये थे। ये हाथ पैर ही अन्धे पुरुप हैं। इन्हीं हाथों के सहारे लेने-देने का व्यवहार तथा पैरों के द्वारा आने-जाने का व्यवहार करता है।

पीछे पुरञ्जनी के रहने का एक अन्तःपुर रनिवास बताया था। यह अन्तःकरण ही अन्तःपुर है। इसी में बुद्धिरूपी रानी

निवास करती है। उस रानी का निजी मन्त्री जिसका नाम विपूची बताया था, वह यह मन ही है। यह मन जैसा राजस, तामस तथा सात्त्विक वृत्ति वाला होता है, जीव उसी प्रकार के हर्ष, शोक, मोहादिक भावों से भावित हो जाता है।

यह बुद्धि ही पुरञ्जन रूप जीव की पुरञ्जनी रूपी प्राणों से भी प्यारी महिषी है, पट्टरानी है। इसी के अधीन होकर जीव अपने आपको भूल जाता है। यह बुद्धिरूपी रानी जिस जिस प्रकार से विकार को प्राप्त होती है, जिस प्रकार इन्द्रिय और मन को आज्ञा देती है, यह गुणों में लिप्त हुआ पुरञ्जन रूप जीव भी वैसा ही बन जाता है। सत्त्वमयी जब बुद्धि होती है, जीव सतोगुणी सा हो जाता है। बुद्धि में जब रजोगुण आ जाता है तब जीव भी रजोगुणी सा दिखाई देता है। बुद्धि पर जब तमोगुण छा जाता है, जीव की वृत्ति भी तमोगुणी जैसी हो जाती है। यद्यपि जीव वृत्तियों का साक्षी मात्र है, वह वास्तव में सुख-दुख आदिक द्वन्दों से निर्लिप्त है, फिर भी वृत्तियों का अनुसरण करने से उन्हें अपनी ही वृत्ति मानने लगता है। यही जीव का जीवत्व है। यही उसका अज्ञान है। यही जीव में और शिव में भेद है। जब उसका सनातन सखा पुरातन पुरुष मानसरोवर का हंस आकर उसे उपदेश देता है, तब उसे अपने सच्चे स्वरूप का बोध होता है। राजन् ! यही इस पुरञ्जन और पुरञ्जनी का तात्पर्य है। पुरुष की देह ही पुरञ्जन का पुरी है।

यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए राजा ने कहा—"भगवन् आपने तो बड़ी विचित्रता के साथ यह अद्भुत कहानी सुनाई इसका तो बड़ा गूढ तात्पर्य निकला। किन्तु आपने अभी पूरी बात तो सुनाई ही नहीं। पुरञ्जन रथ में बैठ कर मृगया को गया था, उससे पुरञ्जनी रूठ गई थी, इसका क्या अभिप्राय इसे और समझा दीजिये।"

यह सुनकर नारदजी बोले—"राजन ! यह भी बड़ी विचित्र बात है। इसका भी अद्भुत अर्थ है। उसे भी मैं आपको सुनाता हूँ, आप समाहित चित्त होकर श्रवण करें। चित्त को तनिक भी चञ्चल न होने दें। जहाँ चित्त भटका वहीं कहानी का तात्पर्य सटका।"

महाराज प्राचीनबर्हि ने कहा—"नहीं महाराज ! मैं एकाग्र चित्त होकर श्रवण कर रहा हूँ। आप स्वस्थ होकर सुनावें।

इस बात से प्रसन्न होकर नारदजी कहने लगे—"अच्छा, तो राजन् सुनिये।"

छप्पय

नाक कान अरु आँखि तथा मुख शिश्न गुदा ये।
नौ दरवाजे बने जीवहित पुरुष बनाये॥
शब्द, रूप, रस, गन्ध, परस पाञ्चाल कहावत।
भोगे विषयनि जीव नित्य निज रूप भुलावत॥
रुदन करै जब जीव जिहि, हंस रूप हरि आइकें।
करुणा करि निज ज्ञान दै, करें शुद्ध समुझाइकें॥

# पुरञ्जनोपाख्यान का अभिप्राय और उससे शिक्षा

[ २६८ ]

यत्र भागवता राजन् साधवो विशदाशयाः ।
भगवद् गुणानुकथन श्रवणव्यग्रचेतसः ॥
तस्मिन्महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र–
पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति ।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णै–
स्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० २९ प० ३९–४० श्लोक)

छप्पय

स्वप्न देह रथ बन्यो कही मृग तृष्णा मृगया ।
काल कह्यो गन्धर्व जरा है ताकी तनया ॥
मृत्यु यवन पति सरिस अंत महँ पुर संहारत ।
शीतज्वर अरु उष्ण, यही प्रज्वार कहावत ॥
भ्रमत जीव प्रारब्ध वश, करिहँ कृपा गुरुदेव जब ।
कृष्ण कथा गुन श्रवन महँ, बढ़ै चित्त अनुराग तब ॥

---

* नारदजी कहते हैं—"राजन् ! जहाँ पर उदार हृदय परोपकारी भक्तजन् भगवान् के गुणों को कथन करने और श्रवण करने में सदा व्यग्र बने रहते हैं, उस मंडली में सबके साथ बैठकर उस स्थान में

यह जीव प्रारब्ध वश नाना योनियों में घूमता घूमता मनुष्य योनि को प्राप्त होता है। इस मोक्ष द्वार रूप देह को पाकर भी जो अनित्य, क्षणभंगुर विषय भोगों में ही फँसे रहते हैं, वे मानो दैव द्वारा ठगे गये। वे जीती हुई बाजी को भी हार गये हैं। राजा के द्वार तक आकर भी लौट गये। हीरा के बदले में चमकता हुआ काँच लेकर लौट गये। जीव का सच्चा स्वार्थ है, भगवत् भक्ति में भगवान् के चरणों में अनुराग करने में। विषयों में फँस कर जीव अपने प्रधान कर्तव्य को भूल जाता है और इधर-उधर की फँसने वाली बातों में अनुराग करने लगता है। यही उसका अज्ञान है। यदि गुरुरूप हरि कृपा करके इसकी दीन दशा देखकर दया करें और इसे इसके यथार्थ रूप का बोध करा दें तो यह जीव से शिव हो जाता है, दुखी से सुखी बन जाता है, बद्ध से मुक्त हो जाता है।

नारदजी कहते हैं—"राजन्! आपने पुरजन की मृगया का तात्पर्य पूछा था, सो सुनिये। जीव जब सो जाता है, तो एक स्वप्न शरीर धारण करके इधर-उधर भटकता फिरता है। ये ५ ज्ञानेन्द्रियाँ ही पाँच घोड़े हैं। एक वर्ष के पश्चात् दूसरा वर्ष यह जो समय का प्रवाह है यही इस रथ की गति है। उस रथ के पुण्य और पाप ये ही दो पहिये हैं। सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण ही उसकी ध्वजा हैं। पञ्चप्राण ही उसके बन्धन हैं। मन उसकी बागडोर है, बुद्धि सारथि है, हृदय बैठने का स्थान

---

महापुरुषों के मुख रूप स्रोत से मधुसूदन भगवान् के चरित्र रूप अमृत से भरी हुई अनेकों नदियाँ बहती रहती हैं। हे नरपति! उस भक्त मंडली में सबके साथ बैठकर अपने कान रूप पान पात्रों में भर-भर अतृप्त होकर उस अमृत का निरन्तर छक-छककर पान करते रहते हैं, उन्हें भूख, प्यास भय, शोक, मोह आदि कुछ भी बाधा नहीं पहुँचा सकते।"

है, सुख दुःख आदि जितने द्वन्द्व हैं वही उस रथ का जूआ है। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये ही उसके मारने के अस्त्र-शस्त्र हैं। रस, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, शुक्र और ओज ये जो सप्त धातु हैं वे ही उसके परदे हैं। ५ कर्मेन्द्रियाँ उसके बाहर होने वाली गति हैं। उस स्वप्न शरीर रूप रथ पर चढ़कर यह पुरजन रूप जीव मृगतृष्णा रूप मिथ्या विषयों में आखेट करने जाता है। इन विषयों का अन्यायपूर्वक ग्रहण करना ही जीव हिंसा के पशुवध के समान है।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! आपने बताया था कि गन्धर्व पति चण्डवेग ने उस पुर पर चढ़ाई की, वह चण्डवेग कौन है? कालकन्या का क्या तात्पर्य है?"

इस पर नारदजी बोले—"राजन्! क्षण, मुहूर्त, लव, काष्ठ, घड़ी, प्रहर, दिन, रात्रि, पक्ष, मास वाला सम्वत्सर ही चण्डवेग नामक गन्धर्व है। ३६० जो उसके अधीन गन्धर्व बताये थे, वे ३६० दिन हैं। ३६० जो गन्धर्वी कही थीं वे ३६० रात्रियाँ हैं। उनमें आधी काली आधी गोरी बताई थीं। सो कृष्ण पक्ष की रात्रियाँ काली गन्धर्वी हैं और शुक्लपक्ष की रात्रियाँ गोरी गन्धर्वी। ये दिन रात्रि ही घूम-घूमकर जीव की आयु को हरते रहते हैं। यह जो वृद्धावस्था है, वही कालकन्या है। आप ही सोचिये, स्वेच्छा से वृद्धावस्था को कौन स्वीकार करता है, इसीलिये इसे कुमारी बताया है। महाराज ययाति के पुत्र पुरु ने पिता के गौरव से इस वृद्धावस्था को स्वेच्छा से ग्रहण किया था। भगवत् भक्ति के प्रभाव से मेरे सम्मुख तो कभी वृद्धावस्था फटकने भी नहीं पाती।

राजा ने पूछा—"भगवन्! यह बात तो सत्य है कि जरावस्था को स्वेच्छा से कोई स्वीकार नहीं करता, किन्तु वह यवनराज

कौन है जिसने कालकन्या को अपनी बहिन बना लिया और उसका भाई प्रज्वार कौन है ?"

इस पर नारदजी बोले—"राजन ! मृत्यु ही यवनराज है। शीतज्वर और उष्णज्वर यही प्रज्वार है। शारीरिक और मानसिक क्लेश ही यवनराज के आज्ञाकारी बलवान सैनिक हैं। ज्वर की सहायता से यह सभी प्राणियों को निगल जाता है। तीनों गुणों में फँस जाने के कारण नाना प्रकार के दुःखों को यह जीव सहता रहता है ?"

राजा ने पूछा—"महाराज ! यह जीव गुणों के चक्कर में फँस क्यों जाता है ?"

शीघ्रता से नारदजी बोले—"अज्ञान वश, और क्या कहा जाय ? वास्तव में यह तो निर्गुण है, अज्ञान से आच्छादित होकर, प्राण, इन्द्रिय और मन आदि के धर्मों को अपने में आरोप करके, "मैं ऐसा हूँ मैं वैसा हूँ, यह वस्तु मेरी है, यह तेरी नहीं है"। इस प्रकार के झूठे अभिमान में भरकर अपने आप इन क्षुद्र विषयों में बँध जाता है और फिर इन विषय भोगों की प्राप्ति की इच्छा से भले बुरे नाना प्रकार के कर्मों को करता रहता है। जब कर्मों का अपने को कर्ता मानेगा, तो उनके फलों को भी भोगना पड़ेगा, इसीलिये इस शरीर में भाँति-भाँति के आधिदैविक आधिभौतिक और आध्यात्मिक दुःखों से क्लेश पाता हुआ आयु पर्यन्त इन्हीं में फँसा रहता है।"

राजा ने पूछा—"प्रभो ! जब यह जीव इन सुख दुःखों से रहित है तो फिर सुख-दुःखों का अनुभव क्यों करता है, क्यों व्यर्थ में अपने को कर्ता मानकर क्लेश सहता रहता है ?"

अन्यमनस्कभाव से नारदजी ने कहा—"राजन ! क्या बतावें यही तो माया का चक्कर है। अपने परम गुरु आत्मस्वरूप श्रीहरि को भुलाकर यह जीव स्वयं प्रकाश होता हुआ भी

गुणों में लिप्त हो जाता है। सब बात मानने से ही तो होती है। "मानो तो देव नहीं पत्थर है" पत्नी माने कि यह मेरा पति है, तब तो उसके दुःख में दुखी और सुख में सुखी होगी। उसे पति न मानकर अपनी स्वार्थ सिद्धि का एक यन्त्र मानती है तो उसे न उसके सुख में सुख न दुख में दुःख। जब तक स्वार्थ निकलता है, तब तक स्वार्थ है, साथ सिद्ध हुआ, तुम अपने रास्ते जाओ, हम अपने रास्ते जाते हैं। बन्धन तो मानने से ही होता है। जब जीव अपने को गुणों का अभिमानी मानने लगा है तो विवश होकर सात्त्विक, राजस और तामस कर्मों को करता है। उन कर्मों के ही अनुसार देवता, पशु, पक्षी, तिर्यक, वृक्ष, मनुष्य आदि योनियों में बार-बार जन्म लेता है बार-बार मरता है।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! भिन्न-भिन्न योनियों में किस कारण से जाता है।"

नारदजी बोले—"कारण वही पुण्य पाप। पुण्य बहुत कम करता है तो प्रकाशमय स्वर्गादि लोकों को प्राप्त होता है। पाप बाहुल्य कर्म करने से नरक आदि की भयंकर यातनायें सहनी पड़ती है। पुण्य पाप मिश्रित होने से मनुष्य आदि योनियों में जन्म लेना पड़ता है। इसी प्रकार यह चक्र चलता है।

राजन्! यह जीव कर्म वश उसी प्रकार भटकता रहता है जैसे कुत्ता एक घर से दूसरे घर के द्वार पर घूमता रहता है। कहीं प्रारब्धानुसार उसे रोटी का टुकड़ा मिल जाता है, कहीं से निराश होकर लौटना पड़ता है। कहीं कोई घरवाली कुपित हुई तो फेंककर ऐसा डण्डा मारती है कि हड्डी पसली टूट जाती है, घाव हो जाता है, बहुत दिनों तक उसकी पीड़ा भोगता रहता है। इसी प्रकार जीव इन ८४ लाख योनियों में भटक रहा है। कहीं क्षण भर को विषय सुख जिह्वा का सुख मिल जाता है, कहीं निरन्तर क्लेश ही सहने पड़ते हैं। कभी पुरुष योनि में चला

जाता है, कभी स्त्री योनि में, कभी नपुंसक बन जाता है। स्वयं जीव न तो स्त्री न पुरुष और न नपुंसक, किन्तु जिस योनि में में चला जाता है, उनमें अपने को वैसा ही अनुभव करने लगता है।"

महाराज प्राचीनबर्हि ने पूछा—"भगवन्! यदि उपाय किया जाय तो इन दुःखों से छुटकारा भी तो मिल सकता है। पुण्य ही पुण्य करे पाप न करे, तब दुःख क्यों होगा?"

नारदजी यह सुनकर हँस पड़े और बोले—"राजन्! जब तक आपका इन आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक आपके सिर पर कर्मबन्धनों की गठरी लदी हुई है, इन तीन प्रकार के दुःखों से सर्वथा छुटकारा हो ही नहीं सकता। थोड़ी देर के लिये मान लीजिये आपने पुण्य ही कर्म किये तो पुण्य भी तो बन्धन के कारण हैं। बन्धन चाहे लोहे का हो या सुवर्ण का हो है तो बन्धन ही। आपके सिर पर बोझ लदा है। सिर में दर्द होने लगा कंधे पर रख लिया। इससे सिर की पीड़ा थोड़ी देर को शान्त अवश्य हो जायगी, किन्तु बोझ तो शरीर पर लदा ही रहेगा। न सिर पर रहा कंधे पर रहा। बात तो एक ही है।

देखिये, कोई आदमी घोड़े पर चढ़ा हुआ जा रहा है। घोड़े पर १० सेर की एक गठरी भी लदी है। उस आदमी ने सोचा—"घोड़े को कष्ट होगा, अतः उस गठरी को घोड़े की पीठ से उठाकर अपने सिर पर लाद लिया। तो क्या घोड़े का भार कुछ कम हो गया? हाँ, जहाँ गठरी रखी थी उस स्थान को कुछ कुछ आराम अवश्य मिला किन्तु पीठ को और भी अधिक कष्ट हुआ। जब तक घोड़े से वह उतरता नहीं तब तक कहीं भी गठरी को रखे, बोझ घोड़े पर ही रहेगा। इसी प्रकार जब तक कर्म बन्धनों में फँसा है तब तक दुःख को हटाने को कैसा भी प्रतीकार करो, उस प्रतीकार को करने से रूप कर्म में ही

कष्ट होगा। कर्मों से कर्मों का बन्धन नहीं छूट सकता। बिना निष्काम हुए जीव का उद्धार नहीं। संसृति का नाश नहीं। कोई आदमी स्वप्न देख रहा है, स्वप्न में उसने देखा—मेरा एक सुन्दर भवन है, उसमें सुन्दर शैया बिछी है। मुझे ज्वर आ गया है, बड़ी पीड़ा है। वैद्य ने आकर दवा दी, शैया पर नींद आ गई, नींद में स्वप्न देखा कोई मुझे मार रहा है। उससे पीड़ा हो रही है। उस पीड़ा से बचने का उपाय यह नहीं है कि वह स्वप्न खुल जाय। स्वप्नावस्था में जो स्वप्न देख रहे हैं, उसका प्रतीकार तभी होगा, जब स्वप्न में देखे जाने वाला स्वप्न नष्ट हो जाय और और फिर पहिला स्वप्न भी नष्ट हो जाय। जब आखें खुल जायँगी तब बोध होगा—अरे, न तो मुझे ज्वर आया था, न ज्वर में सोया था और न उस स्वप्नावस्था के स्वप्न में मुझे किसी ने मारा था। इसी प्रकार आप चाहें कि कर्मजन्य दुःखों का प्रतीकार कर्मों से ही कर लें तो असम्भव है। पाप को भी छोड़ना होगा, पुण्य को भी छोड़ना होगा और जिस वृत्ति से ग्रहण तथा त्याग किया जाता है उसे भी छोड़ना होगा। क्योंकि पुण्य पाप दोनों ही कर्म अविद्या जन्य हैं।

महाराज प्राचीनबर्हि ने कहा—"भगवन्! आप कहते हैं जीव निर्गुण है और इन समस्त अनात्म पदार्थों को आप मायिक तथा मिथ्या बताते हैं। तो ये मिथ्या-त्रिकाल में भी न होने वाले-पदार्थ जीव शरीर में कैसे चिपट जाते हैं। इनका जब अस्तित्व है ही नहीं तो ये दुःख सुख कैसे देते हैं?"

नारदजी हँस पड़े और बोले—"राजन्! एक ही बात को अब बार-बार क्या बताऊँ। आप सोचिये, हम लिङ्ग शरीर से स्वप्न देखते हैं। हमारे पेट में कोई छुरा भोंक रहा है। उस समय स्वप्न में हमें कष्ट भी बड़ा होता है। कभी-कभी तो जागने पर आँखों में आँसू भी प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। किन्तु स्वप्न की

छुरी सत्य नहीं, मारने वाले का अस्तित्व नहीं। फिर भी जीव का कष्ट तो होता ही है। मिथ्या ही सही, अनुभव तो होता ही है। इसी प्रकार ये अन्तःकरणादि अनात्म पदार्थ वास्तव में मिथ्या हैं, फिर भी जीव का उनमें अभिमान है। इसीलिये इसका आवागमन निवृत्त नहीं होता। 'पुनरपि जनन पुनरपि मरण' होता ही रहता है।'

अत्यन्त ही आश्चर्य के साथ महाराज ने पूछा—"प्रभो! जब कर्मों के द्वारा आवागमन का नाश नहीं होता, दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति नहीं होती तो फिर इस दुःख से छुटकारा कैसे हो, शाश्वती शान्ति की उपलब्धि कैसे हो? जिस कर्म के द्वारा जन्म मरण रूप ससार चक्र प्राप्त होता है उस अज्ञान के नाश का कोई उपाय भी तो होगा?"

नारदजी ने दृढता के साथ कहा—हाँ, है क्यों नहीं, अवश्य है। गुरुओं के भी गुरु भगवान् वासुदेव की अहैतुकी भक्ति द्वारा ही इस अज्ञान का नाश हो सकता है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई भी उपाय नहीं।"

राजा ने कहा—"भगवन! हमने तो सुना है, बिना ज्ञान के मुक्ति होती ही नहीं। आप कहते हैं, भक्ति के अतिरिक्त दूसरा उपाय ही नहीं। यह तो विरोध सा प्रतीत होता है।"

नारदजी ने कहा—"अजी, राजन्! वैराग्य और ज्ञान के लिये प्रयत्न नहीं करना पडता। पिता अपनी लडकी को बुलाने को कहता है, तो लडकी के दोनों अबोध बच्चे बिना बुलाये आप से आप उसके साथ आ जाते हैं। उनके लिये पृथक् प्रयत्न की आवश्यकता नहीं। निमन्त्रण और बुलाने की अपेक्षा नहीं। इसी प्रकार भगवान् वासुदेव में एकाग्रता पूर्वक दृढ धारणा के साथ बढी हुई भक्ति ज्ञान और वैराग्य को झट से पैदा कर देती है। ज्ञान वैराग्य तो भक्ति के बच्चे हैं। बच्चे भी बड़े नहीं दुधमुहे हैं,

वे तो भक्ति का आश्रय छोड़कर कहीं जा ही नहीं सकते।"

राजा ने कहा—"महाराज! फिर मुक्ति ?"

नारदजी ने कहा—"अजी पृथ्वीनाथ! मुक्ति तो भक्ति की टहलनी दासी है। वह तो भक्ति के पीछे-पीछे घूमती रहती है। जहाँ भक्ति भवानी जाती हैं, वहाँ मुक्ति उनके पीछे काजर वेंदी सिंदूर की डिब्बी लिये पीछे-पीछे घूमती है।"

अत्यन्त हर्ष के साथ राजा ने पूछा—"भगवन्! आपने भक्ति की तो बड़ी भारी महिमा बताई, किन्तु यह भक्ति प्राप्त कैसे हो भक्ति किसके आश्रय में रहती है, हम उस आश्रय को ही पकड़ लें जिससे भक्ति अपने आप अपने आश्रय को देखकर चली आवे।"

नारदजी प्रसन्नता पूर्वक कहने लगे—"राजन्! भक्ति का आश्रय है अच्युत कथा। जहाँ भागवती कथायें निरन्तर होती रहती हैं, वहाँ भक्ति बिना बुलाये ही चली जाती है। अपने आश्रय को कौन छोड़ सकता है ? इसलिये जो भक्तिभाव से नियम पूर्वक नित्य भगवान् की कथाओं का श्रवण करते रहते हैं, उनके हृदय में भक्ति अपने आप आकर आसन जमा लेती है। भागवती कथाओं के आश्रय में निवास करने वाली भक्ति के लिये भागवती कथा के वक्ता और श्रोताओं से बढ़कर कोई प्यारा नहीं है।"

राजा ने पूछा—"तो भगवन्! भागवती कथा का सेवन कैसे करें। कहीं चुपचाप जाकर अपने आप पढ़ लिया करें ?"

नारदजी ने कहा—"हाँ, कुछ न करने से तो पढ़ना भी अच्छा ही है, किन्तु राजन्! श्रेष्ठ! जहाँ उदार हृदय साधु स्वभाव के सदाचारी भगवद्भक्त मिलकर एक साथ बैठे हों, सभी के रोमाञ्च हो रहे हों, सभी के नेत्रों से झरझर-झरझर प्रेमाश्रु बह रहे हों, उनमें से कोई एक अत्यन्त प्रेम में विभोर होकर कथा कह

रहे हों, दूसरे बहुत से भक्त प्रेम में छके एकाग्र भाव से सुन रहे हों, कहने सुनने वाले कथा में उसी प्रकार व्यग्र हो रहे हों जैसे बेटी के विवाह में बाप व्यग्र बना रहता है। ऐसे भगवद् भक्तों के बीच में कथा रूपी अमृत की चारों ओर से भागीरथी बहने लगती हैं, कहीं सरस्वती का स्रोत फूट पड़ता है, कहीं यमुना जी का अमृतोपम पय हिलोरें लेने लगता है। जिधर देखो उधर ही अमृत का प्रवाह बह रहा है। उस कथा रूपी त्रिवेणी में जाकर उस अनन्त अमृत राशि में से अपने कान रूपी पान-पात्रों में भर भरकर जो भर पेट उस कथामृत का पान करते हैं, पान करते-करते जो अघाते नहीं, निरन्तर पीते पीते जिनकी तृप्ति नहीं होती, वे ही धन्य हैं, वे ही कृतार्थ हैं, उन्हीं का जन्म सफल है, वे ही भागवती भक्ति की कृपा के अधिकारी हैं। उस अमृत के पान करने से उन्हें भूख-प्यास की बाधा नहीं होती। शोक, मोह, भय आदि की बाधा नहीं होती। वे उस अनुपम अमृत का सेवन करने से अजर-अमर बन जाते हैं, जीव से शिव स्वरूप हो जाते हैं।"

राजा ने अत्यन्त हर्ष प्रकट करते हुए कहा—"जब भगवान् का कथारूप अमृत इतना अनुपम है तब जीव इससे अनुराग क्यों नहीं करता ? प्रेमपूर्वक इसका छककर पान क्यों नहीं करता ?"

नारदजी बोले—"राजन् ! सिवाय इसके कि यह जीवों का दुर्भाग्य है और कह ही क्या सकते हैं। जन्म जन्मान्तरों से प्राप्त हुए क्षुधा पिपासा विषय भोगों की इच्छा रूप विघ्नों के अधीन होकर ये जीव भगवान् की कथा रूपी अमृत से भरी त्रिवेणी में अवगाहन नहीं करते। कथामृत सिन्धु का आश्रय ग्रहण नहीं करते। उन परम दर्शनीय प्रभु का दर्शन नहीं करते।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! इन वैदिक और लौकिक कर्मों में फँसे रहने पर क्या भगवान् के दर्शन नहीं हो सकते।"

नारदजी ने कहा—"अजी राजन्! जब तक बुद्धि इन वैतानिक वेदवाद रूप में फँसी है, तब तक चाहे ब्रह्माजी हो या शंकर जी हों, स्वायम्भुव मनु, दक्षादि प्रजापति, सनकादि नैष्ठिक ब्रह्मचारी, मारीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वशिष्ठ में तथा और भी वेदवादी मुनिगण नाना प्रकार की व्याख्याओं के करने में कुशल शास्त्रपटु होने पर तथा तपज्ञान और समाधि में सावधान रहने पर भी उन सर्वद्रष्टा श्रीहरि को देखते हुए भी नहीं देख सकते। बड़े-बड़े वेदविज्ञ ऋषिगण, नाना प्रकार के कर्म काण्डों में फँसे रहने पर, उन प्रभु के सच्चे स्वरूप को नहीं जान सकते जो एक होने पर भी इन्द्रादि रूपों में भिन्न-भिन्न से प्रतीत होते हैं।"

राजा बोले—"भगवन्! फिर कैसे गाड़ी आगे बढ़े?"

नारदजी ने खीजकर कहा—"राजन! मैं बार-बार तो आप को बता चुका। जिस समय वे प्रभु किसी भाग्यशाली जीव पर कृपा करते हैं उस समय वे उसके अंतःकरण में स्वतः ही प्रकट हो जाते हैं। उनकी बाँकी झाँकी होने लगती है। जहाँ उनकी एक बार तिरछी चितवन दृष्टि पथ में पड़ गयी तहाँ बस समझ लो बेड़ा पार हो गया, जीव कृतकृत्य हो गया। तब यह जीव लौकिक और वैदिक कर्मों में आसक्त हुई अपनी बुद्धि को छोड़ देता है। वह आनन्द सागर में निमग्न हो जाता है। स्वर्गीय सुख देने वाले कर्मों के प्रति उसका अनुराग नहीं रहता। इसलिये राजन्! तुम इन सकाम कर्मों में असक्त मत हो। भगवान् की भक्ति में ही चित्त को लगाओ।" इतना कहकर नारद जी चुप हो गये।

छप्पय

साधु संग महँ बैठि कृष्ण गुन सुनै सुनावें।
सरस विमल हरि चरित सुनत जे नाहिं अघावें॥
पान पात्र करि कान निरन्तर भरि-भरि पीवें।
श्री मधुसूदन मधुर सुधारस पीके जीवें॥
कथा भवन महँ भक्त मिलि, पीवें भागवती कथा।
शोक मोह भय भूख की, होहि न तिनि तनिकहु व्यथा॥

———

# श्री नारदजी का प्राचीनवर्हि को उपदेश

[ २६६ ]

क्षुद्रश्चरं सुमनसां शरणे मिथित्वा
रक्तं षडङ्घ्रिगणसामसु लुब्धकर्णम् ।
अग्रे वृकानसुतृपोऽविगणय्य यान्तम्
पृष्ठे मृगं मृगय लुब्धकबाणभिन्नम् ॥*
(श्री भा० ४ स्क० २९ अ० ५३ श्लो०)

छप्पय

कर्म परक हैं वेद मलिनमति पुरुष बतावें ।
भक्ति ज्ञान कछु नाहिँ व्यर्थ सबकूँ बहकावें ॥
राजन् ! जब तक भक्तियोग महँ चित न लगाओ ।
तब तक नहिँ करि कर्म शान्ति सुख कबहूँ पाओ ॥
सबके आश्रय सबगत, जो शोभा के धाम हैं ।
आतम रूप सबके सुहृद, अविनाशी घनश्याम हैं ॥

वेद के वाक्यों का समन्वय करने वाले मीमांसकादि कुछ

---

* देवर्षि नारदजी कहते हैं—राजन् ! एक हरिण है । जो थोड़ा भोजन करता है, अपनी बहू के समागम में आसक्त हुआ पुष्प वाटिका में विचरण करता है । भ्रमरों के सुमधुर गायन में जिसके श्रवण आसक्त हैं । भृगाओं को खाकर अपने प्राणों की तृप्ति करने वाले, आगे जाते हुए भेड़िये को जो नहीं देखता जिसके पीछे वाण लिये व्याधा वेधने को उद्यत है । इस मृग को महाराज खोजिये ।"

जैमिनी प्रभृति आचार्यों का मत है कि वेद कर्म परक हैं। जब तक जीते रहो शुभ कर्म करते रहो। वेद के मन्त्रों से भावनानुसार यज्ञ यागादि करने से स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है। स्वर्ग सुख भोगकर फिर पृथ्वी पर सत्कुल में जन्म होता है। फिर यज्ञ करो, फिर स्वर्ग को प्राप्त करो, यही वेद को अभीष्ट है, यही सुख है, यही चर्म लक्ष्य है। वेद में जो ज्ञान परक वाक्य हैं, वे तो स्तुतिपरक हैं। अतः वेद में बताये यज्ञादि कर्मों के ही द्वारा चरम सिद्धि की प्राप्ति हो सकती है। भक्ति उपासना ज्ञान आदि कुछ भी नहीं है। अन्य महर्षियों का मत है, वेद विहित कर्मों के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि होती है। वेद विहित यज्ञादि कर्म मोक्ष में परम्परागत कारण है। अर्थात् कर्मों से अन्तःकरण की शुद्धि, शुद्ध अन्तःकरण में मोक्ष की इच्छा होना, उससे ज्ञान की प्राप्ति और ज्ञान से मुक्ति। दूसरे आचार्य कहते हैं। सब कर्मों को केवल कृष्णार्पण बुद्धि से करो। जो करो उसका फल श्रीकृष्ण के चरणों मे सौंप दो। समस्त कर्मों का यही एक लक्ष्य हो कि मेरे इस कर्म से श्रीकृष्ण प्रसन्न हों। अर्थात् भगवत् परिचर्या के अतिरिक्त दूसरा कोई कर्म ही न हो। कृष्ण कथा सुनकर कालक्षेप करो। श्रीहरि के प्रपन्न हो जाओ, उनको एकमात्र आश्रय समझकर उन्हीं के चरणों की शरण ग्रहण कर लो। इससे श्री कृष्ण प्रेम की उपलब्धि हो जायगी। तुम उन्हीं के हो जाओगे तदीय बन जाओगे। तुम्हारा समस्त भार सभार वे स्वय सम्हाल लेंगे। तुम्हें स्वय कुछ न करना होगा। तुम अपना अन्तःकरण उन्हें अर्पण भर कर दो। शेष वे सब कर लेंगे। सक्षेप में ये ही ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग कहलाते हैं।

जब नारदजी ने वेदिक यज्ञ यागादिक कर्मों की बड़ी आलोचना की, तब राजा प्राचीनवर्हि जो मीमासकों की भाँति कर्मों को ही सब कुछ समझे बैठे थे, बोले—"भगवन्! वेद तो कर्म

परक ही हैं। समस्त वेदों में कर्मकाण्ड का ही विस्तार है। उसमें जहाँ देखो वहीं कर्म की प्रशंसा है, यज्ञ यागादिकों का ही विस्तार से वर्णन है। फिर आप कर्ममार्ग को सर्वश्रेष्ठ क्यों नहीं मानते ? क्यों आप कर्मकांड की ऐसी कड़ी आलोचना कर रहे हैं ?"

इस पर नारदजी ने कहा—"राजन ! कर्म करते-करते जिनकी बुद्धि कर्मों में ही आसक्त हो गई है, ऐसे मन्द बुद्धि पुरुष ही वेद को कर्म परक बताते हैं। वे वेद के यथार्थ मर्म को नहीं समझ सकते। जिसका वेद ने अनेकों युक्तियों के विस्तार के अनन्तर वर्णन किया है, उस तात्पर्य को समझने की उनमें सामर्थ्य नहीं है। जैसे मान लो, किसी को अरुन्धती का तारा दिखाना हो तो पहिले आकाश को दिखावेंगे, फिर आकाश के समस्त तारों को देखने को कहेंगे। उन सब ताराओं में के सप्तर्षियों के तारों को पृथक् करें। उन सातों में से भी अगले चारों को दिखावेंगे। उन चारों में से भी वशिष्ठ के तारे को दिखाकर कहेंगे, इसके समीप जो छोटा-सा तारा है वही अरुन्धती का तारा है। इतने बड़े विस्तार का तात्पर्य केवल अरुन्धती तारे के लिए ही है और सबको दिखाना मुख्य प्रयोजन नहीं। इस प्रकार राजन ! वेद का मुख्य तात्पर्य अपने स्वरूप भूत आत्मलोक को दिखाने में है, जहाँ स्वयं साक्षात् श्रीजनार्दन भगवान् विराजमान हैं।"

राजा प्राचीनबर्हि ने कहा—"भगवन् ! यह तो आप कुछ विचित्र बात ही कह रहे हैं। त्रयी विद्या तो सर्वत्र कर्म का ही प्रतिपादन करती है।"

इस पर देवर्षि नारदजी ने प्रभावशाली शब्दों में कहना आरम्भ किया—'राजन् ! निरन्तर यज्ञ करते-करते पूर्व की ओर अग्रभाग की हुई कुशाओं से पृथिवी को ढकते-ढकते आप बुद्धि विमूढ़ बन गये हैं। आप अभी तक यह भी नहीं जान सके हैं कि कर्म किसे कहते हैं। विद्या का यथार्थ अभिप्राय क्या है ?"

राजा ने विनीत भाव से कहा—"तब भगवन्! आप ही मुझ मन्दमति को समझावें, कर्म का रहस्य बतावें। विद्या का ज्ञान करावें।"

नारदजी बोले—"राजन्! यथार्थ मे वही कर्म कर्म है जिसके करने से कर्मपति श्रीहरि सन्तुष्ट हों। जिस कर्म के करने से कंस निसूदन प्रसन्न नहीं होते, वह कर्म नहीं कुकर्म है। वास्तविकी विद्या वही है जिसके द्वारा श्रीहरि के पादपद्मो में चित्त लगे। श्रीहरि ही सम्पूर्ण देह धारियों के आत्मा नियामक और स्वतन्त्र कारण हैं। अतः उन कल्याण के निधान सबके साक्षी श्रीमन्नारायण के पुनीत पादपद्म ही प्राणियों के एकमात्र आश्रय हैं। आप नित्य ही अनुभव करते हैं, हम सदा दूसरों से डरा करते हैं, अपने आप से कोई नहीं डरता, क्योंकि अपना आप सभी को प्यारे से भी प्यारा है। आत्मा से बढकर संसार में कोई प्यारी वस्तु नहीं। स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, गृह, कुटुम्ब मे वास्तव में प्रियता नहीं, आत्मा के सम्बन्ध से ही प्रियता है। हमारे शत्रु का घर जल जाय, तो हमें कुछ दुःख नहीं होता, उलटे सुख होता है। उसी घर में हमारा अपनापन हो जाय तो उसकी तनिक दीवाल गिरने पर भी हमें कष्ट होगा। हमारा एक घोड़ा है, जब तक उसमें अपनापन है, तनिक भी बीमार होते ही हमें उसकी चिन्ता लगी रहती है। जहाँ हमने उसे दूसरे के हाथो बेंच दिया, हमारा उसमे से अपमान निकल गया, फिर चाहे वह मर जाय हमें कोई विशेष हर्ष शोक नहीं। जिस आत्मा के सम्बन्ध से सबमें प्रियता है, वह प्रियतम आत्मा श्रीहरि ही हैं। समझे कुछ? जिसे उस आत्मा का ज्ञान हो गया, वह आत्मज्ञानी पुरुष ही गुरु है, वह गुरु श्रीहरि ही हैं। आत्मवित् आत्मस्वरूप ही हो जाता है। इस प्रकार राजन्! मैंने तुम्हें यह गूढ़ ज्ञान बता दिया। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो?"

आश्चर्य चकित होकर राजा ने कहा—"भगवन्! अब क्या सुनना चाहता हूँ, मेरी बुद्धि मे ही नहीं आता। आप तो बड़ी विचित्र बातें बता रहे हैं। जिससे मेरा कल्याण हो, ऐसी कोई सुन्दर-सी बात बताइये।"

यह सुनकर हँसते हुए नारदजी बोले—"राजन्! आप एक मृग को निहारिये, देखिये यह कैसा विचित्र मृग है। घास तो तनिक-तनिक चरता हैं, किन्तु उछलता कूदता बहुत है। अपनी बड़े-बड़े नेत्र वाली सुन्दरी मृगी के समागम सुख मे आसक्त हो कर पुष्प वाटिका के फूलों की भीनी-भीनी सुगन्ध में मस्त होकर इधर-उधर फिर रहा है पुष्पों पर गुञ्जार करते हुए अपने पङ्खों की गुञ्जार से गीत गाते हुए इन भ्रमरों के गायन से तन्मय-सा हो रहा है, इसके आगे से इसे खाने वाला भेड़िया चला आ रहा है। पीछे से धनुष पर बाण संधाने क्रूरकर्मा नित्य ही हिंसा में निरत रहने वाला व्याधा इसे मारने को दौड़ा आ रहा है। फिर भी जो भयभीत होकर अपने आश्रय को खोज न करने वाले इस मदोन्मत्त आसक्त हरिण को तो आप निहारिये।"

राजा ने अपने चारों ओर देखकर कहा—"कहीं तो नहीं भगवन्! मुझे तो न मृग दीखता है न भेड़िया न व्याधा। यह कैसी स्वप्न की-सी बातें कर रहे हैं?"

यह सुनकर नारदजी हँस पड़े और राजा की ओर उँगली से संकेत करते हुए बोले—"राजन् यह जो सिंहासन पर दो पैर का जन्तु बैठा है वही मृग है।"

राजा ने आश्चर्य से पूछा—"प्रभो! मुझे मृग क्यों बता रहे हैं?"

नारदजी बोले—"सुनिये! उस मृग की सब उपमा अपने में घटाइये। देखिये पुष्पों में मन को मोहित करने वाला मधु होता है, उसी प्रकार स्त्रियों के अधरों में तथा अन्य अङ्गों में भी मनुष्य

को मदोन्मत्त कर देने वाला मधु होता है। बोलो, होता है कि नहीं ?"

लज्जित होकर राजा ने कहा—"हाँ भगवन्! वडा मदकारी मधु होता है। उसके पान करने की इच्छा ही सब विवेक को नष्ट कर देती है, फिर पान कर लेने पर कैसी तृष्णा वढ़ जाती है, यह कहने की बात नहीं अनुभव की बात है।"

नारदजी वोले—"देखो जैसे हरिण वाटिका मे मधु लोभी होकर भ्रमण करता है, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम में रहकर पुरुष जिह्वा और उपस्थेन्द्रिय के सुखों को खोजता रहता है। उनकी प्राप्ति के लिये सकाम कर्म यज्ञ अनुष्ठान तथा अन्य भाँति-भाँति के उपाय करता है।"

राजा ने पूछा—"यह तो सत्य है, किन्तु भ्रमरों का मधुर गान क्या वस्तु है ?"

नारदजी ने कहा—"राजन्! इन स्त्रियों का कण्ठ स्वभाव से ही मधुर होता है, क्योंकि पुरुष जहाँ १५-१६ वर्ष का हुआ कि उसके गले की गुठली वढ़ जाती है, उसकी वाणी भारी और कर्कश हो जाती है। १२-१३ वर्ष की अवस्था तक यह नहीं वढ़ती, स्त्रियों के कभी भी नहीं वढ़ती। इसीलिए स्त्रियों और बच्चों की बोली बहुत प्यारी और चित्त को स्वतः ही अपनी ओर खींचने वाली होती है। छोटे-छोटे बच्चों के, सुन्दरी-सुन्दरी स्त्रियों के कलरव को सुनकर चित्त उनमें हठात् फँस जाता है। यही भ्रमरों का मनमोहक गान है।"

राजा ने कहा—"हाँ, भगवन्! हैं तो आप बाल ब्रह्मचारी किन्तु मर्मस्पर्शी बातें बता रहे हैं। हाँ, तो आपने कहा—"एक भेड़िया सामने से आ रहा है, वह भेड़िया क्या है ?"

नारदजी ने कहा—"देखिये राजन्! भेड़िया मृग के समीप ही छिपा बैठा रहता है, अवसर आते ही धर दबोचता है। उसी

प्रकार यह दिन-रात्रि ही जिसका अङ्ग है ऐसा कालरूप यह भेड़िया प्रत्यक्ष सामने ही सबको खाता हुआ दिखाई देता है। फिर भी यह मृग रूप गृहस्थ सुख में फँसा हुआ पुरुष उसे कुछ भी नहीं समझता। विषयों में आसक्त होकर उसकी अवहेलना करता है। जहाँ अवसर आया कि कालरूप भेड़िया अपना कवल बना लेता है।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! धनुष बाण लिये व्याधा कौन है?"

नारदजी बोले—"महाराज! मृत्यु ही व्याधा है। मृत्यु से कौन बच सकता है। इस प्रकार जिसका हृदय विदीर्ण हो गया है, जो कुछ ही काल में मरना ही चाहता है, ऐसे मृग रूप अपने आपको देखो। अपने कल्याण का उपाय सोचो।"

राजा ने घबड़ा कर कहा—"तब प्रभो! मैं क्या करूँ? किस कार्य के करने से इन दुःखों से सदा के लिये छुटकार मिल सकता है?"

नारदजी ने कहा—"देखिये, राजन्! इन आँख, कान, नाक, मुख आदि इन्द्रियों के द्वार ब्रह्माजी ने बाहर की ही ओर बनाये हैं, अतः ये इन्द्रियाँ बाहर की ही वस्तुओं को देखती हैं। भीतर अंतरात्मा को नहीं देखतीं। जैसे गोलक इनके बाहर की ओर हैं, वैसे ही भीतर की ओर भी हैं। बाहरी दृष्टि को रोकने से भीतर की ओर देखने की शक्ति प्राप्त होती है। जो धीर वीर पुरुष मर्त्य धर्म को त्यागकर अमरत्व को प्राप्त करना चाहता है, वही बाहर के इन्द्रिय द्वारों को बन्द करके भीतर दृष्टि ले जाता है। इसलिये बाहर बिखरी हुई वृत्तियों को आप भीतर ले जायँ, फिर चित्त को एकाग्र करके उसमें इन्हें स्थापित करें।"

राजा ने चिन्ता का भाव प्रकट करते हुए कहा—"महाराज! यह कैसे हो सकता है। घर है, द्वार है, स्त्रियाँ हैं, बच्चे हैं इन सबकी भी तो चिन्ता करनी पड़ती है।"

नारदजी ने उपेक्षा के स्वर में कहा—"अजी, राजन् ! कौन किसकी स्त्री, कौन किसके बच्चे। ये सब तो गृहस्थाश्रम के प्रपञ्च हैं। विषय में आसक्त हुए पुरुषों ने स्वयं ही बन्धन बना रखे हैं। वह अपने को ही कर्ता-भर्ता विधाता मान बैठा है। श्रीहरि ही जीवों की जीवों द्वारा उत्पत्ति कराते हैं। वे ही सबकी रक्षा करते हैं, अन्त में वे ही निमित्त बनाकर सबका संहार करते हैं। जीव तो झूठे ही अभिमान करता है, मैं इतने लोगों का पालन-पोषण करता हूँ। मेरे आश्रय में इतने लोग पलते हैं। इस मिथ्याभिमान को छोड़ना चाहिये और जिसमें विषय का ही बाहुल्य है ऐसे गृहस्थाश्रम का परित्याग करके परिव्राजक हो जाना चाहिये। सभी संसारी विषयों का न्यास करके संन्यास धर्म का पालन करना चाहिये। विषयी लोगों से कभी बात भी न करनी चाहिये विषय उतने बन्धन में नहीं फँसा सकते जितने कि विषयी लोग फँसाते हैं, अतः विषयी लोगों का सङ्ग दूर से ही त्याग देना चाहिये।"

राजा ने पूछा—"भगवन् अब तो हमें बहुत से कार्य हैं, उनमें मन लगा रहता है। जब इन गृहस्थ के कार्यों को त्याग देंगे, तो मन कैसे लगेगा। चित्त को फँसाये रखने को कोई कार्य भी तो चाहिये। बेकार बैठे बैठे मन भी तो न लगेगा ?"

नारदजी ने कहा—"राजन् ! यही तो मूर्खता है। जो करने योग्य यथार्थ कार्य है, उसे तो जीव करता नहीं, व्यर्थ के कार्यों में फँसा रहता है। स्मरणीय चिन्तनीय श्रवणीय वन्दनीय एक मात्र श्रीहरि ही हैं। उन्हीं के नाम का कीर्तन करो, उन्हीं की कथाओं का श्रवण करो, उन्हीं की पूजा अर्चा करो, उनका ही ध्यान करो। सर्वदा उन्हीं में चित्त को फँसाये रखो तुम संसार दुःखों से निश्चय ही उपरत हो जाओगे।"

इस पर राजा ने हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो ! यह तो बड़ा

अद्भुत आत्मज्ञान का उपदेश आपने मुझे दिया। मेरे उपाध्याय तो मुझे सर्वदा कर्मकाण्ड में ही फँसे रहने का उपदेश देते रहते थे। निश्चय वे इस गूढ ज्ञान से अनभिज्ञ रहे होंगे। तभी तो उन्होंने मुझे इस सम्बन्ध में आज तक कुछ बताया नहीं। आज मैं भी कृतार्थ हुआ। मेरा अज्ञान रूप मोह दूर हुआ। अब मुझे एक शंका और है, उसका समाधान करके मेरे सभी संशयों का मूलोच्छेदन कर दीजिये।"

मैत्रेयमुनि कहते हैं—विदुरजी! इतना कहकर राजा प्राचीन बर्हि कुछ ठहरकर सोचकर नारदजी से एक दूसरी शंका करने लगे।"

### छप्पय

*राजन्! इन्द्रियजन्य विषयतें चित्त हटाओ।*
*मनकूँ करि एकाग्र कृष्ण चरननि महँ लाओ॥*
*काल भेड़िया खाय मृत्यु पीछे तें मारे।*
*किंकर्तव्य विमूढ़ बन्यो नर नाहिँ विचारे॥*
*नित चर्चा जहँ विषय की, कामिनी बसी चित्त महँ।*
*तजि ताकूँ श्रीहरि भजो, मन न रहे एह चित्तमहँ॥*

# प्राचीनवर्हि और नारद मुनि के सम्वाद की समाप्ति

( ३०० )

एतन्मुकुन्दयशसा भुवनं पुनानम्,
देवर्षिवर्यमुखनिःसृतमात्मशौचम् ।
यः कीर्त्यमानमधिगच्छति पारमेष्ठ्यम्
नास्मिन् भवे भ्रमति मुक्तसमस्तबन्धः ॥❀
(श्रीमा० ४ स्क० २९ अ० ८४ श्लोक)

छप्पय

*मन ही कारन बन्ध मोक्ष को समुझो भूपति ।*
*असत् वस्तु सत् समुझि फँस्यो करि कर्म जीव अति ॥*
*कर्मनि कूँ करि मुक्ति जगततें नहिँ नृप पाओ ।*
*तन मन हरिपद सौंपि भजन महँ चित्त लगाओ ॥*
*सिरजें पालें जगतकूँ, काल पाइ पुनि लय करहिँ ।*
*शरणागत वत्सल सकल, भव-भयकूँ ते हरि हरहिँ ॥*

---

❀ मैत्रेय मुनि कहते हैं—' विदुरजी ! जो पुरुष देवर्षि नारद जी के मुख से निकले हुए, भगवान् मुकुन्द के यश से त्रिलोकी को पवित्र करने वाले इस आत्मज्ञान का कीर्तन करता है, वह पुरुष परमपद को प्राप्त हो जाता है । वह सम्पूर्ण कर्म बन्धनों से मुक्त होकर इस ससार चक्र मे फिर नही भटकता अर्थात् उसका आवागमन समाप्त हो जाता है ।"

यह कर्म चक्र अनादि है। कोई कहे कि हमें यह दुःख या सुख क्यों हुआ, तो हम कह देते हैं, पूर्वकृत पाप और पुण्यों का फल है। वह कहता है—"हमने जब से स्मृति सम्हाली है, तब से ऐसा पाप या पुण्य कभी नहीं किया" तो हम कह देते हैं—"किसी अन्य जन्म में किया होगा। वह कहता है—"अच्छा सृष्टि के आदि में जब प्रलय के पश्चात् जो शरीर हमें मिला वह क्यों मिला, क्यों कि प्रलय में तो हमने कोई काम किया नहीं।" इस पर हम कहते हैं—"यह ठीक है, प्रलय में तुमने कोई कर्म नहीं किया, किन्तु प्रलय के पूर्व जो सर्ग था, उसके कर्म आपके साथ चिपटे रहे, जब सृष्टि का समय हुआ तो उसी के अनुसार योनि मिल गई। जैसे पृथ्वी में गरमियों में बीज चुपचाप पड़ा रहता है। जहाँ वर्षा आई कि उसमें से अंकुर उत्पन्न हो जाता है, फलने फूलने लगता है।" इस पर वह कहता है—"पहिले पहल कैसे योनि मिली आरम्भ में।" तो इसका उत्तर यही है कि, पहिले पहिल कोई आरम्भ ही नहीं। यह कर्म चक्र तो अनादि है। ऐसे ही चल रहा है। कोई कह ही नहीं सकता कब से आरम्भ हुआ। अनादि कर्म वासना जीव के साथ लिपटी है। नित्य-प्रति यह बढ़ती ही जाती है, जैसे मूलधन से नित्य नित्य व्याज बढ़ता है। मूलधन का नाश हो जाय, तो व्याज अपने आप बन्द हो जायगी। इसी प्रकार ज्ञान होने पर भगवत् कृपा से सँचित कर्मों का नाश हो जाय, तो प्रारब्ध और क्रियमाण स्वयं ही नष्ट हो जायँगे।

जब नारदजी ने कर्म बन्धनों का नाश कर्मों के द्वारा नहीं होता यह बात कही और यह भी बताया कि कर्म बन्धनों में बँधा जीव अज्ञानवश अपने को कर्ता मानकर ही नाना योनियों में भ्रमण करता रहता है, तो इस पर महाराज प्राचीनबर्हि ने शंका की—"प्रभो! अब मुझे एक शंका है, मनुष्य जिस शरीर के द्वारा

जो कर्म करता है वह कर्म भी और वह शरीर भी यहीं नष्ट हो जाता है। फिर परलोक में जीव सुख दुःखों का फल पुण्य पाप कैसे भोगता है। मान लीजिये, किसी ने ब्रह्म हत्या की जिसकी उसने हत्या की उस आदमी का शरीर तो यहीं पच भूतों में मिल कर नष्ट हो गया। जिसने हत्या की वह हत्या करने वाला शरीर यहीं रह गया। कर्ता और कर्म दोनों ही यहीं समाप्त हो गये। अब परलोक में उसका फल कौन भोगता है?"

नारदजी ने कहा—"राजन्! फल भोगने के लिये एक भोग शरीर प्राणियों को पृथक प्राप्त होता है। उससे ही वह सुख दुःखों का अनुभव करता है। उसी से पुण्य पाप भोगता है।"

इस पर राजा ने कहा—"तब तो भगवन्! यह सरासर अन्याय है। जिस स्थूल शरीर ने ब्राह्मण की हत्या की वह तो यहीं रह गया और दूसरे शरीर को उसके बदले कष्ट सहना पड़ा। यज्ञदत्त ने अपराध किया उसका दड देवदत्त को सहन करना पडा। यह बात तो हमारी बुद्धि में बैठती नहीं।"

यह सुनकर हँसते हुए नारदजी कहने लगे—"राजन्! आप ध्यान पूर्वक विचार करें—क्या यह स्थूल शरीर स्वतः किसी को मार सकता है। यदि स्थूल शरीर मार सके, तो मृतक शरीर के सब अग ज्यों के त्यों बने रहते हैं, वह अपने शत्रु पर प्रहार क्यों नहीं करता?"

इस पर राजा ने कहा—"महाराज! मृतक शरीर में मारने की शक्ति नहीं होती। उसमें से जो जीवात्मा निकल जाता है। बिना जीवात्मा के प्राण से हीन देह कुछ भी करने में समर्थ नहीं।"

प्रसन्न होकर नारदजी बोले—"हाँ, तो देखिये फिर मारने वाला तो शरीर से भिन्न ही कोई हुआ। शरीर तो नहीं मारता। जब मारने वाला दूसरा है, तो उसे ही दड मिलना चाहिये। किसी ने लाठी से किसी का सिर फोड दिया। तो लाठी को तो

सजा नहीं होवी, सजा तो लाठी मारने वाले की ही होती है। उसी प्रकार स्थूल शरीर का जो अभिमानी है, वही परलोक में अव्यवहित रूप से उसके फल को भोगता है। जीव के बिना देह कुछ भी करने में समर्थ नहीं। देह तो वस्त्र के समान है। किसी वर का किसी कन्या के साथ विवाह होता है। दोनों नये नये रङ्ग बिरंगे वस्त्र पहिने रहते हैं। विवाह के अनन्तर यदि यह आग्रह किया जाय कि जिन वस्त्रों को पहिनकर विवाह हुआ था, वे ही जब शरीर पर हों तो हम गृहस्थ सुख भोगने को पति पत्नी हैं अन्यथा न हों। तब तो गृहस्थी चले ही नहीं। विवाह चाहे जैसे वस्त्रों से हो, गृहस्थ सुख भोगने को जिस समय वे जैसे चाहें वस्त्र पहिन लें, वे पति पत्नी ही रहेंगे। वस्त्रों से उनके फल भोग में कोई अन्तर न पड़ेगा। इसी प्रकार यह देहाभिमानी जीव किसी भी शरीर को धारण कर ले फल तो उसे वे ही सब भोगने पड़ेंगे जिन्हें किसी भी योनि में कर आया हो। देह भेद से कर्मों के भोग में अन्तर न पड़ता है, न यह दोष ही आ सकता है कि देवदत्त के किये कर्मों को यज्ञदत्त कैसे भोगे। देवदत्त ने जिन वस्त्रों से भोजन बनाया है, यह आवश्यक नहीं कि उन्हीं को पहिनकर वह भोजन भी करे।"

राजा ने कुछ सोचकर पूछा—"तो भगवन्! फिर जीव क्या वस्तु है?"

इस पर नारद जी ने कहा—"अब राजन्! क्या बतावें, यह तो एक बड़ी गूढ सी बात है। आप काम चलाने को यों समझ लो पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियाँ पञ्च तन्मात्रायें और एक मन, इन सोलह तत्वों के रूप में निर्मित हुआ पृथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश इन पाँच भूतों से निर्मित तीन गुणों वाला लिङ्ग शरीर जब चेतना से युक्त हो जाता है तो उसी के जीव संज्ञा हो जाती है। स्थूल शरीर उसका आवरण मात्र है। जैसे

चिट्ठी को लिफाफे में रख देते हैं। लिफाफे के नष्ट हो जाने पर भी पत्र के भाव में कोई फेर-फार नहीं होता। पत्र निकल जाने पर लिफाफा व्यर्थ हो जाता है। इसलिये यह जो भी कुछ होता है, मन के ही द्वारा होता है। मन इन्द्रियों को आज्ञा न दे तो कोई कर्म न होगा। मन ही कर्म करता है मन ही फलों को भोगता है। जीव अभिमान वश उसमें अहंता स्थापित कर लेता है, इसीलिये कर्ता न होने पर भी वह मन के संसर्ग से सुखी-दुखी होता है।'

राजा ने कहा—"हाँ भगवन्! यह तो मैं मानता हूँ कि कर्म मन की ही प्रेरणा से शरीर से होते हैं। शरीर को छोड़ देने पर मन उन्हीं कर्मों के संस्कारों को दूसरे शरीर से भोगने पर पहले शरीर के समान ही सुखी दुखी कैसे होता है?"

नारदजी ने कहा—"यह तो बड़ी मोटी बात है। आप स्वप्न में सोते हैं। उस समय आपका स्थूल शरीर तो शैया पर पड़ा रहता है, स्वप्न शरीर से आप दुःख-सुख भोगते हैं कि नहीं? उनके भोगते समय प्रत्यक्ष की भाँति दुखी-सुखी होते हैं। जैसे संस्कार रूप से स्वप्न शरीर से भोगता है, वैसे ही दिव्य शरीर से या यातना शरीर से सुख का अनुभव करता है। शरीर तो कहता नहीं–यह मैं हूँ, ये मेरे स्त्री, बच्चे तथा सबन्धी हैं, मन इनका अनुभव करता है वही पाप पुण्यों को ग्रहण करता है। अपने को कर्ता मान बैठता है, तो उसे ही भोगना होगा। जो कान छिदावेगी वही गुड़ खायगी। यह तो हो नहीं सकता, गुड़ खाइ लाली, कान छिदावे दादी। जन्म मरण मन से ही है। मन जिस शरीर में जायगा। उसी में कर्मों का फल भोगेगा।"

राजा ने कहा—"भगवन्! पूर्व जन्म होता है इस बात में क्या प्रमाण? कोई देखने तो गया नहीं। जन्म लेते ही पूर्वजन्म

सजा नहीं होती, सजा तो लाठी मारने वाले की ही होती है। उसी प्रकार स्थूल शरीर का जो अभिमानी है, वही परलोक में अव्यवहित रूप से उसके फल को भोगता है। जीव के बिना देह कुछ भी करने में समर्थ नहीं। देह तो वस्त्र के समान है। किसी वर का किसी कन्या के साथ विवाह होता है। दोनों नये-नये रङ्ग बिरंगे वस्त्र पहिने रहते हैं। विवाह के अनन्तर यदि यह आग्रह किया जाय कि जिन वस्त्रों को पहिनकर विवाह हुआ था, वे ही जब शरीर पर हों तो हम गृहस्थ सुख भोगने को पति पत्नी हैं अन्यथा न हों। तब तो गृहस्थी चले ही नहीं। विवाह चाहे जैसे वस्त्रों से हो, गृहस्थ सुख भोगने को जिस समय वे जैसे चाहें वस्त्र पहिन लें, वे पति पत्नी ही रहेंगे। वस्त्रों से उनके फल भोग में कोई अन्तर न पड़ेगा। इसी प्रकार यह देहाभिमानी जीव किसी भी शरीर को धारण कर ले फल तो उसे वे ही सब भोगने पड़ेंगे जिन्हें किसी भी योनि में कर आया हो। देह भेद से कर्मों के भोग में अन्तर न पडता है, न यह दोष ही आ सकता है कि देवदत्त के किये कर्मों को यज्ञदत्त कैसे भोगे। देवदत्त ने जिन वस्त्रों से भोजन बनाया है, यह आवश्यक नहीं कि उन्हीं को पहिनकर वह भोजन भी करे।"

राजा ने कुछ सोचकर पूछा—"तो भगवन्! फिर जीव क्या वस्तु है?"

इस पर नारद जी ने कहा—"अब राजन्! क्या बतावें, यह तो एक बड़ी गूढ सी बात है। आप काम चलाने को यों समझ लो पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियाँ पञ्च तन्मात्रायें और एक मन, इन सोलह तत्वों के रूप में निर्मित हुआ पृथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश इन पाँच भूतों से निर्मित तीन गुणों वाला लिङ्ग शरीर जब चेतना से युक्त हो जाता है तो उसी के जीव संज्ञा हो जाती है। स्थूल शरीर उसका आवरण मात्र है। जैसे

चिट्ठी को लिफाफे में रख देते हैं। लिफाफे के नष्ट हो जाने पर भी पत्र के भाव में कोई फेर फार नहीं होता। पत्र निकल जाने पर लिफाफा व्यर्थ हो जाता है। इसलिये यह जो भी कुछ होता है, मन के ही द्वारा होता है। मन इन्द्रियों को आज्ञा न दे तो कोई कर्म न होगा। मन ही कर्म करता है मन ही फलों को भोगता है। जीव अभिमान वश उसमें अहंता स्थापित कर लेता है, इसीलिये कर्ता न होने पर भी वह मन के संसर्ग से सुखी-दुखी होता है।"

राजा ने कहा—"हाँ भगवन ! यह तो मैं मानता हूँ कि कर्म मन की ही प्रेरणा से शरीर से होते हैं। शरीर को छोड़ देने पर मन उन्हीं कर्मों के संस्कारों को दूसरे शरीर से भोगने पर पहले शरीर के समान ही सुखी दुखी कैसे होता है ?"

नारदजी ने कहा—"यह तो बड़ी मोटी बात है। आप स्वप्न में सोते हैं। उस समय आपका स्थूल शरीर तो शैया पर पड़ा रहता है, स्वप्न शरीर से आप दुःख सुख भोगते हैं कि नहीं ? उनके भोगते समय प्रत्यक्ष की भाँति दुखी-सुखी होते हैं। जैसे संस्कार रूप से स्वप्न शरीर से भोगता है, वैसे ही दिव्य शरीर से या यातना शरीर से सुख का अनुभव करता है। शरीर तो कहता नहीं-यह मैं हूँ, ये मेरे स्त्री, बच्चे तथा सबन्धी हैं, मन इनका अनुभव करता है वही पाप पुण्यों को ग्रहण करता है। अपने को कर्ता मान बैठता है, तो उसे ही भोगना होगा। जो कान छिदावेगी वही गुड़ खायगी। यह तो हो नहीं सकता, गुड़ खाइ लाली, कान छिदावे दादी। जन्म मरण मन से ही है। मन जिस शरीर में जायगा। उसी में कर्मों का फल भोगेगा।"

राजा ने कहा—"भगवन् ! पूर्व जन्म होता है इस बात में क्या प्रमाण ? कोई देखने तो गया नहीं। जन्म लेते ही पूर्वजन्म

की सब बातें भूल जाती हैं। तब हम कैसे समझें ये संस्कार पूर्व जन्म के हैं ?"

नारदजी बोले—"राजन् ! देखिये, जो बात इन चर्म चक्षुओं से सिद्ध नहीं होती, उसका अनुमान लगाया जाता है। जैसे हम अपनी पीठ को नहीं देख सकते, दूसरों की पीठ देखते हैं तो अनुमान लगाते हैं, सबके पीठ है, तो हमारे भी होगी। हम माता के गर्भ से उत्पन्न हुए यह बात हमने अपनी स्मृति में देखी नहीं, किन्तु बच्चों को पैदा होते देखते हैं, तो अनुमान लगाते हैं कि कभी हम भी पैदा हुए होंगे। अनुमान के अतिरिक्त आप्त पुरुष, श्रेष्ठ पुरुषों के वाक्य भी प्रमाण माने जाते हैं, जिन्होंने प्रत्यक्ष देखा हो। हमारे माता-पिता आदि ने हमें प्रत्यक्ष उत्पन्न होते देखा है। वे बताते हैं तुम अमुक दिन पैदा हुए थे। उसे हम मान लेते हैं। इसी प्रकार पूर्व जन्म के विषय में अनुमान और आप्त प्रमाण हैं।"

देखिये, हमें इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष तो दीखती नहीं उनके गोलक दीखते हैं। यह जो चक्षु इन्द्रिय है वह तो दृष्टिगोचर होती नहीं, जिसे हम चक्षु कहते हैं वह चक्षु गोलक है। यह चक्षु किसी की प्रेरणा से किसे कहने से देखती है। उस प्रेरक को मनीषियों ने मन कहा है। आँखों की चेष्टा से चित्त का मन का अनुमान होता है। इसी प्रकार चित्त की भिन्न २ वृत्तियों से पूर्व जन्म का अनुमान होता है जैसे स्वप्न में हम बहुत-सी ऐसी बातें देखते हैं जिनका अनुभव इस शरीर में नहीं हुआ। बिना अनुभव हुए स्वप्न में कोई बात आ नहीं सकती। इससे अनुमान लगाते हैं कि किसी पूर्व शरीर से मन ने इसका अनुभव किया होगा।

राजा ने कहा—"भगवन ! स्वप्न में तो हम वही बात देखते हैं, जिसका जाग्रत में अनुभव किया हो।"

शीघ्रता से नारदजी बोले—"ऐसी बात नहीं महाराज! कभी-कभी विलक्षण स्वप्न दीखते हैं। कभी २ ऐसा भी होता है, जो वस्तु पहिले नहीं देखी थी स्वप्न में दीखती है, फिर जाग्रत में कभी वह मिलती है तो ज्यों-त्यों दिखाई देती है। इससे अनुमान होता है पूर्व जन्म में हमने इसे देखा होगा। इसके अतिरिक्त बहुत को जाति स्मरण होती है। पूर्व जन्म की सब सच्ची सच्ची बातें बताते हैं। ज्योतिष विद्या से भी पूर्व जन्म की बहुत-सी बातें ज्यों की त्यों सच्ची निकलती हैं। एक बात और भी है, मनुष्य के स्वभाव, व्यवहार चाल चलन को देखकर भी उसके पूर्व का अनुमान हो जाता है कि यह पूर्वजन्म में पुण्यात्मा था या पापात्मा। जो लोग नरक से और स्वर्ग से लौटकर आते हैं उन्हें लक्षणों से ही पहिचाना जा सकता है।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! वह कौन-सी पहिचान है, किन लक्षणों से यह जाना जाता है कि यह स्वर्ग से लौटा पुण्यात्मा पुरुष है, यह नरक से लौटा हुआ पापात्मा पुरुष है?"

नारदजी ने कहा—"देखिये, स्वर्ग से लौटे हुए पुरुषों के शरीर में ४ चिन्ह शेष रह जाते हैं। एक तो स्वर्गीय पुण्यात्मा जीवों की स्वाभाविक रुचि दान में रहती है। जो भी अपने पास हो विद्वानों को गरीबों को आश्रितों को अभ्यागतों को दान देते रहे। दान देने में उन्हें आन्तरिक सुख होता है। दूसरा चिन्ह यह है कि उनकी वाणी स्वाभाविक मधुर होती है। वे रोते हुए को हँसा देते हैं, उनका मुख मण्डल सदा प्रसन्न रहता है। मन्द हास्य उनके मुख पर सदा छिटकता रहता है। जो उनसे बातें करता है, उसकी तबियत नहीं भरती, चित्त चाहता है इनसे और भी बातें करें। क्रोध में भी वे जो बातें कहते हैं वे भी बड़ी प्यारी लगती हैं। क्रोध तो वे प्रायः करते ही नहीं। तीसरी बात यह है कि देवताओं के पूजन भगवत् परिचर्या में उनको बड़ा आनन्द

आता है। और स्वर्ग से लौटे हुए पुरुषों का चौथा चिन्ह यह है कि वे श्रेष्ठ ज्ञानी ब्राह्मणों को सदा अपने व्यवहार और आचरण से सन्तुष्ट रखते हैं। ये चार बातें जिनमें हों उन्हें निःसंदेह समझ लो कि ये स्वर्ग से लौटे हुए जीव हैं।

राजा ने पूछा—"भगवन्! नरक से लौटे हुए पापी पुरुषों की क्या पहिचान है ?"

नारदजी बोले—"राजन्! नारकीय जीव छिपते नहीं। उनके तो क्रोध भरे विकृत रूप को ही देखकर मनुष्य सहज में अनुमान कर सकता है। फिर भी पहिचान के लिये नरक से लौटे हुए जीवों के शरीर में ६ चिन्ह शेष रह जाते हैं। एक तो यह कि वे अत्यन्त क्रोधी होते हैं। सहज स्वभाव से बातें करने पर भी ऐसा लगता है मानों लड़ रहे हों। उनकी आँखें सदा चढ़ी रहती हैं। देखने वाले दूर से ही डर जाते हैं। दूसरे उनकी वाणी विष बुझे बाणों के समान होती है। जिससे बोलेंगे व्यङ्ग वचन ही बोलेंगे, कटु भाषण करना ही उनका स्वभाव होता है। तीसरा चिन्ह यह है कि वे मन के बड़े दरिद्र होते हैं, किसी को कुछ देने में उनका हृदय फटने लगता है। इतने कृपण होते हैं कि न स्वयं खाते हैं न किसी को खाने देते हैं। चौथी बात यह कि अपने बन्धु-बान्धवों और परिवार वालों से सदा द्वेष करते रहते हैं। पाँचवाँ चिन्ह यह है कि उन्हें नीचों का, क्षुद्र पुरुषों का संग प्रिय होता है। स्वयं ओछी तबियत के होते हैं और संग भी ओछे पुरुषों का करते हैं। छठी बात यह है कि वे साधु महात्मा ज्ञानी पुरुषों की तो सेवा सुश्रूषा करते नहीं, जो कुलहीन पाखण्ड ढोंगी होते हैं, उन्हीं की सेवा करते हैं। जिनमें ये सब बातें हों, समझो ये सीधे नरक से निकलकर किसी पूर्वकृत पुण्य के प्रभाव से मनुष्य शरीर में आ गये हैं और फिर भी नरक की तैयारी करते हुए बिस्तर बाँधे बैठे हैं।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! नरक में तो वह पापों का फल भोग ही आया, फिर उसका स्वभाव ऐसा क्यों होता है ?"

नारदजी बोले—"अजी राजन्! भोग लेने पर भी संस्कार तो कुछ न कुछ शेप रह ही जाते हैं। तमाखू पीकर उसका धुआँ निकाल देने पर भी मुँह में दुर्गन्ध बनी ही रहती है। प्याज को खा लेने पर भी बुरी डकार आती ही है। शराब के पी लेने पर भी मुख से उसकी भभक निकलती ही है। मदिरा के कलश को धो लेने पर भी उसकी अशुद्धता शेप रह ही जाती है। इसी प्रकार कपूर की डिबिया मे कपूर निकाल लेने पर उसमे सुगन्ध रह ही जाती है। केवड़ा की बाल सूख जाने पर भी उसकी गन्ध रहती ही है। मन मे जो संस्कार जम जाते हैं वे अतिशीघ्र एक दो जन्म में नष्ट नहीं होते। पूर्वजन्मों में इन्द्रियों से अनुभव होने वाले सभी पदार्थ पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने के लिये समयानुसार अन्तःकरण के सम्मुख आते-जाते रहते हैं। क्योंकि जितने भी मनुष्य हैं उन सबका मन अनेक जन्मों के नाना संस्कारों से अनुभावित होता है।"

राजा ने पूछा—"तब तो भगवन्! इस जीव को कभी भगवत् दर्शन हो ही नहीं सकते, क्योंकि मन के संस्कार कभी मिटने के नहीं। ये चक्र के समान आते जाते रहेंगे। संस्कार दृढ़ होते जायँगे। तब तो जीव सदा ८४ के चक्कर में ही फँसा रहेगा। फिर मुक्ति का तो कोई ढङ्ग नहीं।"

बड़ी प्रसन्नता प्रकट करते हुए देवर्षि नारदजी बोले—"हाँ, राजन्! अब आप बात पर पहुँचे। वास्तव में बात यही है कि जब तक अनादि काल से बना हुआ यह बुद्धि मन इन्द्रिय और शब्द, रूप, रस, गन्ध, तथा स्पर्श विषय रूप गुणों का संघात लिङ्गदेह विद्यमान है जब तक अन्तःकरण का नाश नहीं होता, तब तक मनुष्य में 'मैं मेरा तू तेरा' यह भावना ही रहती है।

अहंकार की जब तक निवृत्ति न हो तब तक भगवत् दर्शन सम्भव नहीं।"

इस पर राजा ने पूछा—"भगवन्! जब मनुष्य गाढ़ निद्रा में सोता है तब तो उसे शरीर का जगत् का भान नहीं रहता। अहंकार की निवृत्ति हो जाती है उस समय तो फिर भगवत् दर्शन हो जाने चाहिये।"

नारदजी बोले—"हाँ, राजन! आप ठीक कहते हैं। उस समय संसार का भान नहीं रहता, सुख स्वरूप भगवान् का कुछ अनुभव होता है। मनुष्य कितना भी दुखी हो, गाढ़ निद्रा में यदि वह सो जाय तो सब दुःखों को भूल जाता है। एक अपूर्व सुख का अनुभव करता है, किन्तु अहंकार को लेकर वह लीन होता है। सूक्ष्म रूप से अहंकार तो वहाँ बना ही रहता है। यदि अहंकार न होता तो उठकर यह कैसे कहता—"अहा! आज सो बड़ी गहरी नींद आई। बड़े आनन्द से खूब सोया। मुझे कुछ भान ही न रहा।" गहरी नींद का आना, सुख का अनुभव, इतना सोया, ये बातें अहंकार के बिना निद्रा में कौन अनुभव करता? इससे सिद्ध हुआ सुषुप्ति अवस्था में भी अहंकार सूक्ष्म रूप से बना ही हुआ था।"

राजा ने कहा—"अच्छा महाराज! कोई पेड़ पर से गिर कर मूर्छित हो जाता है। शल्य शास्त्र के चिकित्सक एक औषधि सुँघाकर मूर्छित कर लेते हैं। उस अवस्था मे, अत्यन्त शोक की अवस्था में, घोर ज्वर मे, मृत्यु के समय भी शरीर और जगत् भूल जाता है।"

बीच में ही नारदजी बोले—"वही बात यहाँ समझिये। भूल भले हो जाय, सूक्ष्म रूप से अभिमान तो वहाँ भी वर्तमान रहता ही है।"

राजा ने पूछा—"महाराज!, तब जो निरन्तर भगवान् का

ध्यान करते रहते हैं ऐसे भगवान् की सन्निधि मे रहने वाले सत्यनिष्ठ भगवत् भक्तों के अन्त करण में तो जगत् का भान न होता होगा ? उनके अन्तःकरण से तो यह दृश्य प्रपञ्च सदा के लिये भाग जाता होगा, जेसे आप हैं। यह सुनकर नारदजी हँस पडे और बोले—"अब राजन्! आप तो खोद खोद कर अन्तःकरण के सतह तक की बात पूछते हैं। महाराज! सत्य बात तो यह हे कि जब तक यह शरार हे तब तक जगत् का अत्यन्ता भाव होता ही नहीं। यह जगत् पिंड छोडता नहीं। हॉ, एक बात है, भक्तों के अन्त.करण पर समीप रहते हुए उसका कुछ प्रभाव नहीं पडता। जैसे राहु कहीं चला थोडे ही जाता है। चन्द्रमा के सर्वदा समीप रहता हे, किन्तु उन पर अपना कुछ प्रभाव नहीं डाल सकता। कभी कभी पूर्णिमा के दिन ग्रहण के समय उसकी कुछ कला को प्रतीति होती है, फिर छिप जाता हे। उसी प्रकार भक्तों के अन्तःकरण में जगत् का तादात्म्य से भान होता है। कभी कभी भूल में भगवत् विस्मृत होने पर जगत् अपना रङ्ग दिखा देता है। मैं भी एक बार एक छोकरी के चक्कर मे फॅस गया था। भगवान् को भूल गया था किन्तु भगवान् ने मुझे बाल-बाल बचा लिया। कुछ समय में ही वह मद उतर गया।"

महाराज प्राचीनवर्हि ने कहा—"भगवन्! एक शङ्का मुझे रह गई। आपने १० इन्द्रिय पञ्च तन्मात्रा और एक अन्त.करण इस प्रकार १६ गुणा के सघात को कई बार लिङ्ग देह कहा है। इस पर मेरी शका यह हे कि बाल्यावस्था मे तथा गर्भावस्था में तो इन्द्रियॉ अपना काम करती नहीं इन्द्रियो का काम हे विषयों का उपभोग। बाल्यकाल मे लड्डू पास रखा है हाथ उसे उठा नहीं सकते। रसना उसकी स्वाद नहीं ले सकती तो क्या उन दोनों अवस्थाओं में लिङ्ग देह नहीं रहता ?"

नारदजी ने कहा—"रहता क्यों नहीं! इन्द्रियों के पूर्णतया

जिज्ञासुओं को उपदेश देने ही आते हैं, नहीं तो ऊपर के दिव्य लोकों मे ही विचरते रहते हैं।"

नारदजी से ऐसा दिव्य उपदेश पाकर महाराज प्राचीनबर्हि अपने पुत्र प्रचेताओं को प्रजा सर्ग तथा प्रजा पालन मे नियुक्त करके बाबाजी बनकर भगवान् कपिलदेव के आश्रम पर जाकर वहाँ सम्पूर्ण विषयो की आसक्ति छोडकर श्रीहरि के पादपद्मो का एकाग्रचित्त होकर ध्यान करते हुए कालयापन करते रहे। अन्त में वे परम पद के अधिकारी हुए।

विदुरजी ने कहा—"भगवन्! यह तो आपने परोक्ष रूप से बहुत ही ऊँचा आत्मज्ञान मुझे बताया। इसे सुनकर तो मैं कृतार्थ हो गया।"

उल्लास के साथ मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! आप तो ज्ञानी हैं, भगवत् भक्त मे, जो भी इस भगवान् नारद के मुख से निसृत ज्ञानामृत पान करेगा, वही इस जन्म मरण के कारण रूप लिङ्ग देह के अभिमान से मुक्त होकर परमपद का अधिकारी बन जायगा। यह भगवान् मुकुन्द के यश से पूरित सुखद सवाद तीनों लोकों को पावन करने वाला है, जो इसे श्रद्धा से सुनता है, कहता है, उसे फिर संसार के चक्र में नहीं भटकना पडता।"

विदुर ने पूछा—"भगवन्! आपको यह दिव्य आत्मज्ञान किससे प्राप्त हुआ।"

मैत्रेय मुनि ने कहा—"मैंने अपने गुरु भगवान् बृहस्पति से तथा आनन्द कन्द नन्दनन्दन जगद्गुरु श्रीकृष्णचन्द्र के मुख से सुना था। जो पुरुष मेरे तुम्हारे सम्वाद को सुनेंगे उन्हें फिर यह शका शेष न रहेगी कि मनुष्य परलोक मे अपने कृत कर्मो का फल किस प्रकार भोगता है। उसकी समस्त शकाओं का समाधान हो जायगा। वह देहाभिमान से मुक्त हो जायगा।"

विदुरजी ने पूछा—"भगवन् आपने उन प्रचेताओं के पिता

का तो वृत्तान्त सुनाया, किन्तु आपने उन प्रचेताओं का वृत्तान्त अधूरा ही छोड दिया। भगवान शकर से रुद्रगीत का उपदेश पाकर उन्होंने कैसी तपस्या की। उनकी मुक्ति में तो कोई सदेह ही नहीं। क्योकि साक्षात् मुक्ति के स्वामी शकरजी ने उन्हे उपदेश दिया था। फिर भी मुक्ति के पूर्व उन्होंने क्या क्या किया, इन सब बातो को सुनने की मेरी बड़ी इच्छा है।"

यह सुनकर हँसते हुए मैत्रेय जी बोले—"विदुर जी आप तो बात को भूलते ही नहीं, कथा का प्रवाह बनाये ही रहना चाहते हैं। तनिक सुस्ता लीजिये नेकसा विश्राम कर लीजिये, तब सब सुनाऊँगा। यह कहकर मैत्रेय जी आचमन करने लगे।"

छप्पय

*श्रीनारद मुनि कथित ज्ञानकूँ जे नर धारें।*
*ते न जनम पुनि लेहिं जाल जग के कूँ जारें॥*
*कह्यो पुरजन गृही बुद्धि सग फँस्यो देह महँ।*
*मैं मेरी मूहँ बँध्यो पुत्र घन धाम गेह महँ॥*
*हरि हियमहँ जे धारिकें, पीवें प्रभु पय प्रेमतें।*
*पावें ते नर परम पद, कहें सुने जे नेमतें॥*

---

# प्रचेताओं को भगवान् के दर्शन

[ २०१ ]

दशवर्षसहस्रान्ते पुरुषस्तु सनातनः ।
तेषामाविरभूत्कृच्छ्रं शान्तेन शमयन् रुचा ॥*
(श्रीभा० ४ स्क० ३० अ० ४ श्लोक)

छप्पय

*विदुर कहें—हे गुरो ! पुरंजन कथा सुनाई ।*
*किन्तु प्रचेता बात बीच महँ विभो भुलाई ॥*
*रुद्रगीत उपदेश पाइ तिनि का का कीन्हों ।*
*कैसे तिनि ढिँग आइ जगत्पति दर्शन दीन्हों ॥*
*मुनि बोले—सुनु विदुर अब, कहूँ प्रचेतनि की कथा ।*
*रुद्रगीत जपि तप करयो, हरि दर्शन पाये जथा ॥*

एक बार जिसकी जिह्वा ने मिश्री का स्वाद चख लिया, उसे यदि प्रसङ्ग वश प्रारब्धवश गुड़ या सीरा खाना पड़े, तो समयानुसार उसे खायेगा और उसमें क्षणिक सुख का भी अनुभव करेगा, किन्तु जहाँ अवसर निकल गया और मिश्री मिलने का

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! इस प्रकार प्रचेताओं को जप तप करते-करते १० हजार वर्ष हो गये, तब सनातन पुराण पुरुष अपनी शक्तिमयी कान्ति से उनके सताप को शान्त करते हुए उन सबके सम्मुख प्रकट हुए ।"

प्रसङ्ग उपस्थित हो गया, तब फिर वह उस सौरा-लौटा-में आसक्ति न रखेगा। उसे खाने की फिर इच्छा न करेगा। कभी-कभी भगवत्‌दर्शन हो जाने पर भी संसारी विषयों में फँसना पड़ता है। इसे दैवेच्छा या प्रारब्ध का भोग समझना चाहिये। किन्तु जहाँ भोग समाप्त हुआ कि फिर उनसे तत्क्षण विराग हो जाता है और पुनः भगवत्‌दर्शन की तीव्र उत्कण्ठा जागृत हो जाती है। भूले हुए ज्ञान को स्मरण करने में देर नहीं होती। एक बार महत्पुरुषों की कृपा प्राप्त होने पर उसका फल अमोघ होता है। प्रसगानुसार कुछ काल भले ही वह अपना फल न दिखावे किन्तु समय आने पर वह अपना फल दिखाते हैं। कल्याणमय कार्य करने वाला कभी भी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब मैत्रेय मुनि ने विदुरजी को प्राचीनवर्हि और नारदजी के प्रसङ्ग में पुरंजनोपाख्यान सुनाया, तब उसे सुनकर विदुरजी अत्यन्त प्रसन्न हुए। इस गूढ आत्मज्ञान के उपदेश की समाप्ति हो गई तब भागवती कथाओं में अत्यन्त लोलुप विदुरजी ने प्रसङ्ग को चालू रखने के निमित्त प्रचेताओं के अग्रिम चरित्र का प्रश्न कर दिया, तब प्रसन्नता प्रकट करते हुए भगवान् मैत्रेय विदुरजी के प्रश्न का उत्तर देते हुए, प्रचेताओं के छूटे हुए शेष चरित्र को सुनाने लगे।"

मैत्रेय मुनि बोले—'विदुरजी! यह बात तो मैं पीछे बता ही चुका हूँ कि अपने पिता महाराज प्राचीनवर्हि की आज्ञा से दशों प्रचेता सिन्धु समुद्र के सगम पर तपस्या करने को जा रहे थे। रास्ते में उन्हें शिवजी के दर्शन हुए। शिवजी ने उन्हें रुद्रगीत का उपदेश दिया। भगवान् भूतनाथ से दिव्य रुद्रगीत का उपदेश पाकर सभी भाई समुद्र के जल में खड़े होकर दश हजार वर्षों तक घोर तपस्या करते रहे। शिवजी की आज्ञा से एकाग्र चित्त होकर

वे निरन्तर योगादेश स्तोत्र का श्रद्धा सहित जप पाठ करते हुए भगवान् की प्रतीक्षा करते रहे।"

इस पर जब उन्हें तपस्या करते-करते दश हजार वर्ष व्यतीत हो गये, तो भक्तवत्सल भगवान् श्रीहरि ने उनके ऊपर कृपा की। उन्हें अपने दर्शन देकर कृतार्थ किया।

विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! प्रचेताओं को भगवान् ने किस रूप से दर्शन दिये। द्विभुज मे चतुर्भुज रूप में या अन्य किसी रूप में ?"

मैत्रेय मुनि यह सुनकर बोले—"विदुरजी! प्रभु विष्णु के अनेक रूप हैं। प्रचेताओं को उन्होंने अष्टभुज रूप से दर्शन दिये। प्रचेता ध्यान में मग्न थे, इतने में ही उन्हे सर्र-सर्र कुछ सामदेव की-सी ध्वनि सुनाई दी। इतने में ही उन्हें आकाश मार्ग से आते हुए श्रीगरुड़जी दिखाई दिये। उन्हीं के पङ्खों से वेदध्वनि निकल रही थी। गरुड़जी का विशाल शरीर सुमेरु के शिखर के समान प्रतीत होता था, उस पर भगवान् श्यामसुन्दर घनश्याम बिजली से चमचमाते नव जलधर के समान प्रतीत हो रहे थे। शरीर पर पीताम्बर फहरा रहा, कण्ठ में दिव्य कौस्तुभ-मणि चमचमा रही थी। कानों के मकराकृत कुण्डल कपोलों की आभा को छिटकाते हुए हिल रहे थे। मस्तक पर मणिमय मुकुट झिलमिल झिलमिल करता हुआ, दशों दिशाओं के अन्धकार का नाश कर रहा था। नख से शिख तक देदीप्यमान दिव्य आभूषण अपनी शोभा से शोभा को भी तिरस्कृत कर रहे थे। उनकी आठों भुजाओं मे शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, धनुष, बाण, खड्ग और ढाल ये आठ आयुध परम शोभा को प्राप्त हो रहे थे। आयुधों से सुसज्जित श्रीहरि की शोभा ऐसी ही प्रतीत होती थी मानो सुमेरु शिखर पर कर्णिकार का वृक्ष फूल रहा हो। गले में वनमाला हिल-हिलकर लक्ष्मी के समान अपनी चंचलता

दिखा रही थी और अपने सौभाग्य पर गर्व करती हुई इठला रही थी। हरि के वक्षस्थल का स्पर्श पाकर उसके रोम-रोम खिल रहे थे। वे लक्ष्मीजी के सौभाग्य के साथ स्पर्धा कर रही थीं। गरुड़जी के आगे-आगे गन्धर्व गानकर रहे थे, अप्सरायें नृत्य कर रही थीं। इस प्रकार तपस्या करते हुए प्रचेताओं के सम्मुख प्रकट होकर श्रीहरि उनके समस्त शोक सतापों को दूर करते हुए उनसे मेघ गम्भीर वाणी में कहने लगे।"

भगवान् ने कहा—"हे प्राचीनबर्हि के पुत्रो! तुम्हारा कल्याण हो। मैं तुम्हारे शील स्वभाव से, तुम्हारी भक्ति से, तुम्हारी तपस्या से परम सन्तुष्ट हूँ। तुम मुझसे जो भी चाहो वरदान माँग लो। तुम सबकी अवस्था शील स्वभाव संकोच सदाचार व्यवहार और तप एक-सा ही है। तुम सबमे परस्पर मे बड़ा प्रेम है। तुम सब एक ही उपासना रूप कर्म में तत्पर हो। तुम्हारा व्यवहार तो अनुकरणीय है।"

भगवान् की ऐसी मधुर प्रेम से सनी वाणी सुनकर प्रचेताओं की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। वे भगवान् के सम्मुख कुछ भी कहने को समर्थ न हुए। दशों के नेत्रों से एक साथ प्रेम के अश्रु भर-भर करते हुए झरने लगे। उन्हें समान रूप से प्रेम में विह्वल देखकर भगवान् स्वयं उन्हे वरदान देते हुए बोले—"जो पुरुष सायं प्रातः तुम भाइयों का स्मरण करेगा उसे सब प्राणियों में सुहृदयता और अपने भाइयों में परम प्रेम प्राप्त होगा यह तो मेरा पहिला वर है।

अब मैं तुम्हें एक वरदान और देता हूँ। तुम सबने भगवान् शंकर की आज्ञा शिरोधार्य करके जिस रुद्रगीत का जप पाठ करते हुए तपस्या की है, उससे जो भी कोई सायंकाल और प्रातःकाल एकाग्रचित्त होकर मेरी स्तुति करेगा उसे मैं मनोवांछित फल दूँगा।

तीसरा मेरा यह वरदान है कि तुम सबके सब बड़े पितृभक्त हो। पिता की आज्ञा मानकर तुम सब बिना ननु नच किये तपस्या करने के निमित्त चले आये। जो लोग गुरुजनों की आज्ञा मानकर कार्य करते हैं, उनकी आयु, विद्या, यश और बल की वृद्धि होती है। अतः ससार में तुम्हारी बड़ी कीर्ति होगी।

चौथा ऐसा वरदान मैं तुम्हें और देता हूँ वह यह कि तुम्हारे एक ऐसा शक्तिशाली, यशस्वी, तजस्वी, तपस्वी तथा मनस्वी पुत्र होगा जो अपने गुणों में अपने ही समान होगा। उसे लोग दूसरा प्रजापति ब्रह्मा ही कहेंगे, ब्रह्माजी से वह गुणों में किसी प्रकार भी कम न होगा।

इस पर मन ही मन प्रसन्न होकर प्रचेता बोले—"महाराज! सूत न कपास अभी से वस्त्र बनने की बात। अभी तो हमारा विवाह ही नहीं हुआ। हमारे अनुरूप कोई बहूरानी ही नहीं मिली, फिर बच्चा कैसे होगा?"

भगवान् हँसे और बोले—"अरे, बच्चो मेरे भक्तों के लिए कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है। मैंने तुम लोगों के लिये इतनी सुन्दर बहू पहिले से ही ठीक-ठाक कर ली है कि तुम उसे देखते ही प्रसन्न हो जाओगे। वह वृक्षों की कन्या है, इसलिये वार्क्षी उसका नाम है।"

प्रचेताओं ने कहा—"महाराज! वृक्षों के तो कन्या हमने कभी नहीं सुनी। वृक्षों की कन्या से हम मनुष्य होकर कैसे विवाह करें। किसी राजा की कन्या बताते।"

भगवान् हँसे और बोले—"भैया देखो! पिता कई प्रकार के होते हैं। जो जन्म देता है वह भी पिता है, जो भय से रक्षा करता है वह भी पिता है, जो पालन-पोषण करके बढ़ाता है वह भी पिता है, जो अज्ञानान्धकार मेट कर ज्ञानालोक प्रदान करता है वह भी पिता है। इस प्रकार कोई पालनकर्ता के नाम से

प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं, कोई अन्नदाता के नाम से। वास्तव में वह लड़की तो एक ऋषि की है, किन्तु उसका प्रतिपालन वृक्षों ने किया है, इसीलिये उसका नाम वार्क्षी पड़ा है। वह तुम्हारे सर्वदा अनुरूप है।"

प्रचेताओं ने पूछा—"प्रभो वह किन ऋषि की कन्या है? किससे उत्पन्न हुई है? वृक्षों ने उसका पालन क्यों किया है? उसके माता-पिता ने उसका परित्याग क्यों कर दिया है? कृपा करके इन सब बातों को हमें बताइये। वैसे तो आपकी सभी आज्ञायें हमें शिरोधार्य हैं, फिर भी जिसके संग जीवन भर रहना है, उसके कुल गोत्र का परिचय प्राप्त करना आवश्यक होता है।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् बोले—"राजपुत्रों! मैं तुम्हें तुम्हारी भावी बहू का वृत्तान्त सुनाता हूँ, तुम कान खोलकर सावधानी के साथ श्रवण करो।"

मैत्रेय मुनि कहते—"विदुरजी! इतना कहकर भगवान् विष्णु प्रचेताओं को उस वार्क्षी कन्या की कथा सुनाने को उद्यत हुए।"

छप्पय

तपते भये प्रसन्न प्रचेतनि ढिंग हरि आये।
दुरलभ दरशन दये दये वर चार सुहाये॥
सुमिरें तुमकूँ रुद्र गीत जपि गोकूँ ध्यावें।
मातृ प्रेम नित बढ़ै मनोवांछित फल पावें॥
होहि जगतमहँ कीर्ति अति, पुत्र प्रजापति होहि सम।
वार्क्षी कन्या सङ्ग सब, करो ब्याह मिलि बन्धु तुम॥

# वार्क्षी कन्या की कथा

[ ३०२ ]

कण्डोः प्रम्लोचया लब्धा कन्या कमललोचना ।
तां चापविद्धां जगृहुर्भूरुहा नृपनन्दनाः ॥

(श्री भा० ४ स्क० ३० अ०१३ श्लो०)

छप्पय

*कराडु भये इक परम तपस्वी मुनि विज्ञानी।*
*तपमहँ नितई निरत योगरत ज्ञानी ध्यानी॥*
*घोर तपस्या करत निरखि सुरपति घबरायो।*
*प्रम्लोचा सुरबधू भेजि तप विघ्न करायौ॥*
*सोलह हू सिंगार करि, सजि बजि मुनि ढिग आइकें।*
*यौवन तें इतराइकें, मुनि मन लियौ चुराइकें॥*

शास्त्रकारों का कथन है स्त्रियों के चरित को, पुरुष के भाग्य को कोई जान नहीं सकता। यह भाग्य मनुष्य को कहाँ ले जायगा, प्रारब्ध कर्म कहाँ ले जाकर पटक देंगे, इसका ठीक-ठीक निर्णय कोई कर नहीं सकता। कितने विधान बनाकर कितनी ऊहापोह

---

*मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! भगवान् विष्णु प्रचेताओं को बताने लगे कि महर्षि कण्डु की प्रम्लोचा अप्सरा से उत्पन्न एक कमल नयनी कन्या थी। उसे छोड़कर जब वह अप्सरा जाने लगी तो उसे वृक्षों ने ग्रहण कर लिया।"

करके हम किसी कार्य में प्रवृत्त होते हैं। उत्साह और पुरुषार्थ के सहारे हम अनन्त-जलराशि वाले समुद्र को कुछ भी न समझ कर बाहुओं द्वारा ही उसे पार करने का विचार करते हैं, कूद पड़ते हैं। सम्मुख किनारा भी दिखाई देने लगता है किन्तु बीच में ही अकस्मात् दैवगति से एक ऐसी लहर आती है। कोई ऐसा बवण्डर उठता है कि हम बीच में ही डूब जाते हैं। हमारे सब मनोरथ विफल हो जाते हैं। सब विधान बने के बने ही रह जाते हैं। हम अथाह समुद्र में डूब जाते हैं। यदि साथ में कृष्णरूप कैवर्त का अवलम्ब हो तो वह डूबते हुए को भी करावलम्ब देकर उबार सकता है। थके होने पर भी पार पहुँचा सकता है। गिरे हुए को भी उठा सकता है। अतः कर्म करते समय कृष्ण स्मरण को न विसारना चाहिये। उनका स्मरण करते-करते संसार रूप समर में युद्ध करते रहना चाहिये।

प्रचेताओं के पूछने पर भगवान् विष्णु उनसे कहने लगे—"राजपुत्रो! एक बड़े तेजस्वी तपस्वी कण्डु नामक महर्षि थे। वे एकान्त में रहकर घोर तपस्या करने लगे। वे न कुछ खाते थे, न पीते थे। केवल वायु का आहार करके हजारों वर्ष समाधिस्थ रहकर निरन्तर घोर तप करते रहते थे। कभी-कभी वे समाधि खोलते, फल-फूल का आहार करते, फिर समाधि में निमग्न हो जाते। इस प्रकार चिरकाल तक उग्र तप करते-करते सिद्धियाँ उनके अधीन हो गईं। उनका चित्त एकाग्र हो गया।

देवताओं के स्वामी इन्द्र का तो यह स्वभाव ही है जिसे तपस्या में निरत देखता है, उसी से भय होने लगता है। वह सोचता है, ऐसा न हो कहीं कि यह हमारे इन्द्रासन को तपस्या के प्रभाव से छीन ले। इसलिये जैसे होता है तैसे उसके तप में विघ्न करने की सदा चेष्टा करता रहता है। महर्षि कण्डु की तपस्या से भी शतक्रतु भयभीत हुआ। उसने सोचा - "ये महामुनि

इतना तप अवश्य ही इन्द्रासन पाने के लिये कर रहे हैं। मैं किसी उपाय से इनके तप में विघ्न करा दूँ।"

भगवान् ने कहा—"कुमारो! तपस्या में सबसे बड़ा विघ्न है काम। काम से ही क्रोध तथा लोभ होता है जिसने कामनाओं पर विजय प्राप्त कर ली है, वही सच्चा तपस्वी है। जिनके मन में कुछ कचाई रह जाती है, वे लोग बीच में ही फिसल जाते हैं।"

देवेन्द्र इन्द्र ने अपनी समस्त श्रेष्ठ और सुन्दरी अप्सराओं को बुलाया और उनसे पूछा—"तुममें से कौन महर्षि कण्डु के मन को मोहित कर सकती है।"

यह सुनकर उर्वशी तिलोत्तमा प्रभृति अप्सराओं ने हाथ जोड़कर कहा—"देव! हम इन तपस्वी ऋषियों से बहुत डरती हैं। ये क्रोध में भरकर ऐसा घोर शाप दे देते हैं कि हम किसी भी काम की नहीं रहतीं। महर्षि कण्डु तो महान तपस्वी हैं उनके मन को विचलित करना अत्यंत ही कठिन है।"

बड़ी-बड़ी अप्सराओं के मुख से ऐसी बात सुनकर इन्द्र सूखी हँसी हँसकर बोले—"बस, तुम लोगों को इसी रूप पर गर्व है।"

देवेन्द्र की ऐसी व्यङ्ग वाणी सुनकर उनमें से प्रम्लोचा नाम की अत्यंत ही रूप गर्विता अप्सरा बोली—"देव! आप मुझे आज्ञा दें, मैं मुनि के मन को मोहकर उनको तपस्या से हटा दूँगी।"

प्रम्लोचा की ऐसी बात सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए नाकपति इन्द्र बोले—"देवि! मैं तुम्हारे अनिन्द्य सौंदर्य का लोहा मानता हूँ। तुम अवश्य ही मुनि को अपने हाव भाव कटाक्षों द्वारा मोहित कर सकोगी। कामिनी! तुम्हारा कल्याण हो, तुम ऋषि के पास जाकर मेरा प्रिय कार्य करो। उनको तपस्या से उपराम कर दो। मेरे हृदय के कसकते हुए कंटक को निकाल दो।"

यह सुनकर अप्सराओं में श्रेष्ठ प्रम्लोचा ने अमरपति के पाद पद्मों में शिर से प्रणाम किया और सबका आशीर्वाद लेकर सजधज कर मुनि के आश्रम की ओर चली।

परम शान्त एकान्त स्थान में भगवती सुरसरि के समीप अपने मनोहर आश्रम में मुनि समाधि मग्न थे। मलयाचल की शीतल मन्द सुगन्ध को लिये हुए शनैः-शनैः पवनदेव बह रहे थे। बसन्त अपनी सजधज के सहित उस पुण्य प्रान्त में क्रीड़ा कर रहे थे। लता और वृक्ष पुष्प और फलों के भार से नत हो रहे थे। पर्वतों के शिखरों से श्वेत सर्प के समान टेढ़े मेढ़े झरने झर-झर शब्द करते हुए बह रहे थे। वन की शोभा सजीव होकर नृत्य कर रही थी। वृक्षों पर बैठे विहग वृन्द कल-कल शब्द कर रहे थे। भगवान् भुवन भास्कर भयभीत के सदृश उदयाचल के अञ्चल से सिर निकाल कर भागने का उपक्रम कर रहे थे। उसी मनोहर समय में अपनी करधनी कङ्कण तथा नूपुरों की झनकार से दशों दिशाओं को झंकृत करती हुई प्रम्लोचा वहाँ पहुँची। उसने लाल चोली के ऊपर अत्यत ही क्षीण पीताम्बर ओढ रखा था। जिसमें से छन छन कर उसके अङ्ग प्रत्यङ्गों का उमडता हुआ यौवन प्रत्यक्ष दिखाई देता था। मद से मदमाती इठलाती नाना प्रकार की भावभङ्गी दिखाती इधर से उधर झम्म-झम्म करती हुई घूमने लगी। कभी इस लता से फूल तोड़ती कभी उस वृक्ष से फल तोडती कभी किसी के पत्ते को मसल देती। इस प्रकार वह व्यर्थ के व्यापारों को करती हुई अपनी स्वाभाविक चञ्चलता का प्रदर्शन करने लगी।

उसी समय मुनि की आँखें खुलीं। सामने उन्होंने शोभा की साकार मूर्ति उस अप्सरा को फुदकते हुए, यौवन के मद से उन्मत्त होकर क्रीड़ा करते हुए देखा। उसने देखकर भी मुनि को नहीं देखा। कनखियों से बीच-बीच में देख लेती कि मेरे

रूप का जादू मुनि पर पड़ा कि नहीं। मुनि ने अपने मन को समाहित किया। चित्त को चञ्चल होने से रोका। किन्तु मन ने अराजकता मचा दी। मदोन्मत्त हस्ति के समान बन्धन तोड़कर वह आपे से बाहर हो गया मुनि बार-बार उसे निहारते फिर आँखों को बन्द कर लेते। आँखें बन्द करने पर भी उसकी चञ्चलता भरी भाव मूर्ति उन्हें प्रत्यक्ष दिखाई देने लगी। कानों में सुमधुर नूपुरों की छम्म-छम्म सुनाई देने लगी। अब मुनि से न रहा गया। उन्होंने उस प्रमदा को पुकारा, किन्तु उसने सुनकर भी अनुसनी कर दी। मुनि की उत्सुकता बढ़ाने के लिये उसने अपनी निस्पृहता प्रदर्शित की।

जब मुनि ने कई बार पुकारा तो अँगड़ाई लेती हुई मदमाती अलसाती हुई शनैः-शनैः मुनि के पास आई, भूमि में सिर टेक कर अपने कटाक्ष बाणों को मुनि के ऊपर छोड़कर श्रेणी के भार से कुछ नत होकर वह हाथ जोड़े हुए खड़ी हो गई। उसकी ऐसी विनय को देखकर मुनि का हृदय पानी बनकर बहने लगा। बड़े स्नेह से उन्होंने कहा—"तुम खड़ी क्यों हो, बैठ जाओ, खड़े-खड़े तुम्हें कष्ट होता होगा।"

यह सुनकर भी वह बैठती नहीं, पैर के नख से पृथ्वी को कुरेदती हुई सिर झुकाकर मुनि के सम्मुख खड़ी की खड़ी ही रह गई।

मुनि ने अत्यन्त ही स्नेह के साथ कहा— "तुम कौन हो? यहाँ क्यों आई हो? तुम्हारे आने का प्रयोजन क्या है?"

लजाते हुए स्त्रीसुलभ सुकुमारता दिखाते हुए वीणा की सी झंकार करते हुए, अपने लाल-लाल पतले ओठों को हिलाते हुए अपनी शुभ्र स्वच्छ दन्तावली की आभा से मोती बिखेरते हुए उसने कोकिल कण्ठ से रुक-रुककर कहना आरम्भ किया—"मैं निराश्रिता हूँ, आश्रय की खोज में आपके चरणों में उपस्थित

हुई हूँ। भगवान् की सेवा करने की मन में लालसा है किन्तु अपने सौभाग्य के सम्बन्ध में संदेह है कि भगवान् इस अनाश्रिता अबला की सेवा स्वीकार करेंगे भी या नहीं।"

अपने मन की बात उस मनोरमा के मुख से सुनकर मुनि के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा, वे स्नेह भरित वाणी में बोले—"देवि! यह आश्रम तुम्हारा है। मैं भी तुम्हारा हूँ, तुम इस आश्रम को अपना ही समझकर आनन्द से निर्भय होकर रहो और अपने सहवास सुख से मुझे सुखी करो। तुम्हारे रहने से मुझे अत्यधिक आनन्द होगा।"

भगवान् कहते हैं—"राजपुत्रो! मुनि की ऐसी बात सुनकर वह देवाङ्गना मुनि की सेवा सुश्रूषा करती हुई उनके आश्रम में रहने लगी। उसने अपनी सेवा से मुनि को ऐसा वश में कर लिया कि अब वे सब जप तप ध्यान भजन भूल गये। कब दिन होता है कब रात्रि, इसका उन्हें कुछ भी पता नहीं था। शरीर सम्बन्धी शौचादि क्रियायें स्वाभाविक रूप से हो जाती थीं। उनमें न मुनि का संकल्प था न ध्यान। वे निरन्तर प्रम्लोचा के ध्यान में ही निमग्न रहने लगे, उसके अङ्ग-सङ्ग से उनकी समस्त चेतना लुप्त हो गई। वे उस परम स्त्री के फन्द में भली भाँति फँस गये।

जब इसप्रकार विषय सुख भोगते-भोगते सैकड़ों वर्ष हो गये, तब एक दिन हाथ जोड़कर डरते-डरते उस अप्सरा ने कहा—"प्रभो मैं देवेन्द्र की दासी हूँ, अब मुझे स्वर्ग जाने की आज्ञा दें। जैसे नींद में ही कोई उत्तर देता है, उसी प्रकार मुनि ने कहा—"अभी कुछ काल और रहो" प्रम्लोचा ने कुछ नहीं कहा। वह फिर मुनि को विषय सुख देती हुई वहाँ रहने लगी। कुछ काल के अनन्तर उसने फिर मुनि से आज्ञा माँगी। मुनि ने

फिर भी अनुमति नहीं दी। इस प्रकार उसने कई बार पूछा और मुनि बार-बार उससे रहने का ही आग्रह करते रहे।

एक दिन भगवान् कण्डु ने देखा—"भगवान् मरीचिमाली अपनी लाल-लाल किरणों से अम्बर को रक्तरञ्जित बनाते हुए सन्ध्या देवी के अरुण अञ्चल में छिपने का उपक्रम कर रहे हैं। प्रारब्धवश मुनि को उस समय चैतन्यता प्राप्त हुई। उनका काम मद उतर गया, वे कुछ प्रकृतिस्थ हुए। प्रम्लोचा के कण्ठ में पड़ी अपनी भुजा को हटाकर उन्होंने कमण्डलु को उठाया। खड़ाऊँ पहिनकर उन्होंने कहा—"अरे, अतिकाल हो गया। सायंकालीन सन्ध्या का समय बीतता जा रहा है। आज मुझे सन्ध्या करने में देर हो गई।"

यह सुनकर वह अप्सरा मुस्कराई और अपनी हँसी रोकती हुई कहने लगी—"आज संध्या की याद कैसे आ गई ?"

मुनि ने गम्भीरता के साथ कहा—"सन्ध्या तो हम ब्राह्मणों का नित्य का कर्तव्य है , इसकी क्या याद आती थी।"

अप्सरा ने कहा—"महाराज! इतने दिनों से तो कभी सन्ध्या की नहीं।"

आश्चर्य प्रकट करते हुए मुनि बोले—"इतने दिन क्या ? तुम आज प्रातःकाल ही आई थीं। अब सायंकाल हो गया।"

यह सुनकर प्रम्लोचा हँस पड़ी, मुनि को कुछ बुरा लगा वे बोले—"तू हँसती क्यों है, अपनी हँसी का ठीक-ठीक कारण बता।"

मुनि को इसप्रकार गम्भीर देखकर अप्सरा की तो सिटिल्ली भूल गई। उसने डरते-डरते कहा—"भगवन्! आपको तो बहुत समय बीत गया।"

आश्चर्य प्रकट करते हुए मुनि ने पूछा—"कितना समय बीत गया।"

अप्सरा ने गणना करके बताया—"इतने हजार इतने सौ इतने वर्ष ?"

इतना सुनते ही मुनि का चेहरा दमदमाने लगा। वे क्रोध करके बोले—"दुष्टे ! ठगिनी ! मैं समझ गया। तू इन्द्र की भेजी हुई अप्सरा है। तैने मेरा सर्वस्व नाश कर दिया। मेरे तपरूप धन का अपहरण कर लिया।"

इतना सुनते ही अप्सरा का मुख फक्क पड़ गया। आँखों से आँसू निकल पड़े। केले के पत्ते के समान वह मारे भय के थर-थर काँपने लगी। उसे इस प्रकार भयभीत देखकर अपने आपको समझाते हुए मुनि बोले—"हे वाराङ्गना ! तू भय को छोड़ दे। मैं तुझे शाप देकर भस्म न करूँगा। सज्जनों ने सप्तपदी मैत्री बताई है जिसके साथ सात पैर चल लें या जिससे संभाषण कर लें धर्मात्मा पुरुष उसे अपना मित्र मान लेते हैं। तू तो मेरे साथ हजारों वर्ष रही है। अतः मैं तेरा अनिष्ट न करूँगा। फिर तेरा अपराध ही क्या ? मेरी ही नीचता है, यदि मैं अपने मन को वश में रख सकता, तो तू मेरा क्या बिगाड़ सकती थी। भूल तो मेरी ही है, जो मैंने तेरे हाव भाव कटाक्षों में फँसकर अपना सर्वस्व नष्ट कर दिया। हाय ! मैं कैसा विवेकहीन बन गया ये हजारों वर्ष मुझे एक क्षण के समान प्रतीत हुए। आते हुए दिन रात्रि मुझे प्रतीत ही न हुए। तेरे सौन्दर्यमद में ऐसा मदोन्मत्त हुआ कि काल का कुछ पता ही न चला। अब तू यहाँ से भाग जा नहीं मैं तुझे अभी भस्म कर दूँगा।"

इस पर विदुरजी ने पूछा—"भगवन् ! इतने बड़े ज्ञानी ध्यानी मुनि का ऐसा विवेक कैसे नष्ट हो गया जो हजारों वर्षों को एक दिन समझने लगे। ऐसे तन्मय तो हम गृहस्थी भी नहीं होते। विषय भोगों में रहते हुए भी धर्म अर्थ सम्बन्धी कार्य करते रहते हैं।"

इस पर मैत्रेयमुनि बोले—"विदुरजी! देखिये यह चित्त सदा एकाग्रता में तन्मय होता है। अनेकों विषय में फँसे रहने से किसी एक विषय में पूरा तन्मय होता नहीं। तभी तो विषयात्मिका बुद्धि समाधि में नहीं लगती। मन को एकाग्र होने का अभ्यास हो जाय, तो फिर जिस विषय में भी लग जायगा उसी में तन्मय हो जायगा। गृहस्थ को नाना चिन्तायें लगी रहती हैं। घर-द्वार, स्त्री परिवार, बाल बच्चे, आय, व्यय, योग क्षेम सभी में चित्त फँसा रहता है। आज घर में अमुक वस्तु नहीं, बच्चे को ज्वर आ गया है, लड़की विवाह योग्य हो गई है। घरवाली पर वस्त्र नहीं। शत्रु ने न्यायालय में यह अभियोग चलाया है, आज इतने अतिथि आये हैं, घर का बैल बूढ़ा हो गया है। घोड़ी की पीठ पर घाव हो गया है। घर की दिवाल गिर गई है। इन सब चिन्ताओं से चित्त भटकता रहता है। विषयवासना के समय क्षण भर को तन्मय होता है, निवृत्त होते ही चिन्ता सागर में निमग्न हो जाता है। इसीलिये गृहस्थी इतने बेसुध नहीं बनते। ऋषि तो धारणा ध्यान के द्वारा समाधि का अनुभव कर चुके थे। प्रारब्धवश दूसरे जन्मों के संस्कारवश चित्त विषय वासना में फँस गया। भगवान् में तन्मय न होकर वैषयिक सुखों में तन्मय हो गया। चित्त तो एक ही है, चाहे इसे भगवान् में लगालो या इससे विषय कमालो। इसलिये उनका चित्त इतना अधिक तन्मय हो गया दिन रात्रि किसी का भी पता न चला। गृहस्थों का चित्त चञ्चल होने से कभी वह विषयों से विरक्त होना चाहता भी है, तो आसक्ति वश हो नहीं सकता। किन्तु मुनि को जहाँ विवेक हुआ, जहाँ विषयों से चित्त हटकर पूर्व सुख का अनुभव करने लगा, तहाँ उन्हें वे विषय सुख विषवत् प्रतीत होने लगे। फिर एक क्षण भी उस अप्सरा को वे अपने सम्मुख न देख सके।"

भगवान् कहते हैं—"प्रचेताओ ! वह प्रम्लोचा अप्सरा थर-थर काँपती हुई, भय के कारण पसीना से लथ पथ हुई मुनि को प्रणाम करके स्वर्ग के लिये चली। इतने दिनों तक मुनि का संसर्ग हुआ, जाते समय उससे पसीना आदि के संसर्ग से एक कन्या उत्पन्न हो गई, जिसे वह एक वृक्षों के झुण्ड में टालकर स्वर्ग चली गई। एक तो वह वैसे ही स्वर्ग की दिव्य अप्सरा थी, दूसरे सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी, तीसरे तपः पूत ऋषि के इतने दिनों तक संसर्ग में रहा था। उससे जो कन्या ,उत्पन्न हुई, वह परम सुन्दरी हुई। उसके समान सुन्दरी संसार में कोई भी स्त्री न थी। उस कमल के समान नयन वाली कन्या को वृक्षों में अनाथ पड़ी देखकर, वृक्षों को बड़ी दया आई। वृक्षों के राजा चन्द्रमा ने देखा कन्या बड़ी सुन्दरी है, बिना माँ बाप की निराश्रिता पड़ी है, भूख के कारण रुदन कर रही है। उन्हें उस पर दया आ गई। उन्होंने अपनी अमृत स्राविनी तर्जनी उँगली उस बच्ची के मुख में दे दी। बच्ची का जैसा स्वभाव होता है उस उँगली को चिचोरने लगी। उस दिव्य अमृत का पान करने से उसकी तुष्टि हो गई। इस इस प्रकार वह वृक्षों द्वारा प्रतिपालित होकर चन्द्रमा के दिये हुए अमृत का पान करके बड़ा हुई है। अब वह १६ वर्ष की परम सुन्दरी युवती हो गई है। राजकुमारो ! तुम्हारे पिता ने तुम्हें प्रजा बढ़ाने के लिये ही तपस्या करने की आज्ञा दी है , अतः तुम सब उससे विवाह कर लो और उसके द्वारा प्रजा की वृद्धि करो। उससे जो पुत्र होगा, वह भाँति भाँति की असंख्य सृष्टि पैदा करेगा।"

प्रचेताओं ने कहा—"भगवन् ! हम तो १० हैं,लड़की अकेली है। इसमें कौन भाई उसके साथ विवाह करे।"

भगवान् ने कहा—"देखो, भाई ! तुम सब एक ही धर्म में तत्पर रहने वाले हो। तुम सबका शील, स्वभाव, सदाचार रहन

सहन सब एक सा है। शरीर से पृथक्-पृथक् होने पर भी मन से तुम सब एक ही हो अतः यह तुम्हारे अनुरूप ही स्वभाव वाली परम सुन्दरी तुम सब भाइयों की समानभाव से ही पत्नी होगी। पूर्वजन्मों के संस्कार ऐसे हैं। उसे भी पता है कि मैं प्रचेताओं का ही पत्नी हूँगी, अतः उसका चित्त भी सदा तुम लोगों में ही लगा रहता है। इसलिये तुम इसमें कुछ विचार न करो। मेरी आज्ञा शिरोधार्य करो। तुम दिव्य सहस्र वर्ष पर्यन्त पृथ्वी पर रहकर दिव्य सुखों को भोगोगे और मेरे वरदान से तुम्हारा तेज बल वीर्य कभी क्षीण न होगा।"

प्रचेताओं ने विनीत भाव से पूछा—"तो क्या भगवन्! हम इन संसारी विषयों में ही फँसे रहेंगे, हमें क्या आपके चरण कमलों की अनपायिनी भक्ति कभी प्राप्त न होगी?"

भगवान् बोले—"नहीं, ऐसी बात नहीं है। जिसे एक बार मेरे दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हो गया, उसका कभी भी पतन नहीं होता। अन्त में तुम्हें मेरी अहैतुकी अव्यभिचारिणी अनपायिनी भक्ति की प्राप्ति होगी उसके द्वारा तुम सबके अन्तःकरण की सम्पूर्ण वासनायें क्षीण हो जायँगी। वासनाओं के क्षीण हो जाने पर फिर तुम्हें ये वैषयिक सुख तुच्छ और दुखप्रद प्रतीत होने लगेंगे, तब तुम सब मेरे परम धाम को प्राप्त हो जाओगे।"

प्रचेताओं ने कहा—"प्रभो! गृहस्थाश्रम में रहकर तो आप की भक्ति प्राप्त करना अत्यन्त ही कठिन है। कर्मों में आसक्त हो जाने से आपके चरणों में भक्ति होती नहीं।

भगवान ने कहा—"भैया! यह बात तुम ठीक कहते हो, किन्तु गृहस्थ में रहकर भी जो भी कर्म करे उन्हें मुझे अर्पण करता जाय। सब कर्मों को मेरी ही प्रसन्नता के निमित्त करे और अपने अधिकांश समय को मेरी कथा वार्ता, मेरे नाम गुण कीर्तन

में ही बितावे, तो उसे गृहस्थाश्रम बन्धन नहीं होता। घर में रह कर भी वह परम पद का अधिकारी बन जाता है।"

प्रचेताओं ने कहा—"महाराज! नित्य ही आपकी कथा में चित्त कैसे लगेगा? चित्त तो सदा नई-नई बात सुनने को नई-नई जानकारी प्राप्त करने को उत्सुक रहता है। आपकी कथायें तो कुछ दिन तक सुनते-सुनते पुरानी पड़ जायँगी। पुरानी बातों में तो उतना आनन्द आता नहीं।"

भगवान् ने कहा—"कुमारो! देखो, जिस वस्तु में मनुष्य की अत्यन्त आसक्ति हो जाती है, उसे वह वस्तु नित्य नूतन ही दिखाई देती है। जो रूप हमें प्यारा लगता है, वह क्षण-क्षण में नया-नया सा प्रतीत होता है। मेरी पत्नी लक्ष्मीजी मुझे इतना प्यार क्यों करती हैं? इसीलिये कि वे मुझे जब भी देखती हैं, तभी उन्हें नया-ही-नया दिखायी देता हूँ। इसी प्रकार मेरे भक्त जो मुझे भगवान् कहकर स्मरण पूजन करते हैं, उन्हें मैं नित्य नूतन-सा प्रतीत होता हूँ, वे मेरे दर्शन करते-करते कभी अघाते नहीं। मेरी लीलाओं का श्रवण करते-करते कभी तृप्त नहीं होते। मेरी कथाओं को वे जब भी सुनते हैं, तभी उनमें एक विलक्षणता एक अपूर्व नूतनता उन्हे अनुभव होने लगती है। मुझे ब्रह्मवादी "ब्रह्म" कहते हैं। वे मुझे प्राप्त करके शोक, मोह, हर्ष आदि सभी से रहित होकर परमानन्द स्वरूप हो जाते हैं।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार भगवान् से वरदान पाकर उनका आशीर्वाद और अनुशासन पाकर प्रचेताओं ने अपने को कृतार्थ समझा। वे भगवान् की भक्त वत्सलता का स्मरण करके मन-ही-मन अत्यन्त हर्षित हुए। फिर प्रेम में विभोर होकर रुँधे हुए कंठ से गद्गद् वाणी से भगवान् वासुदेव की स्तुति करने लगे।"

छप्पय

रही सहस्रों बरष सग ऋषि समय न जान्यो।
चेत भयो तब दिवस एक ई मुनिवर मान्यो॥
जब जान्यो वृत्तान्त क्रोध करि रौंढ़ भगाई।
परम सुन्दरी छाँड़ि बालिका स्वरग सिधाई॥
वृक्षनि पाली मारिषा, वार्क्षी ताईतें भई।
करो ब्याह मिलि बन्धु सब, अब तो स्यानी है गई॥

---

# प्रचेताओं का गृहस्थाश्रम में प्रवेश

[ ३०२ ]

ते च ब्रह्मण आदेशान्मारिषामुपयेमिरे ।
यस्यां महदवज्ञानादजन्यजनयोनिजः ।।*

(श्री भा० ४ स्क० ३० अ० ४८ श्लो०)

छप्पय

*भगवत् आज्ञा पाइ चले सब वृक्ष जरावें।*
*वृक्ष जरत लखि तुरत तहाँ चतुरानन आये॥*
*समुझाये बहु भाँति अरे क्यों वृक्ष जराओ।*
*लेहु मारिषा 'बहू' ब्याहि अपने घर जाओ॥*
*विधि आज्ञा मानी सबनि, वार्क्षी कन्या ब्याहि कें।*
*गृही धर्म महँ रत भये, निज पितु पुर महँ आइ कें॥*

भगवान् की कृपा की दृष्टि प्राणीमात्र पर सर्वदा होती रहती है, किन्तु अज्ञ जीव उसका अनुभव नहीं करते। अपवित्र अन्तःकरण वाले उसका मर्म नहीं समझ सकते। प्रभु के सभी विधानों में उनकी अनुकम्पा निहित है। जीव का सबसे बड़ा पुरुषार्थ यही

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—'विदुरजी! प्रचेताओं ने ब्रह्माजी के आदेश से उन वृक्षों की कन्या 'मारिषा' से विवाह कर लिया। जिसके गर्भ से शिवजी का अपमान करने के कारण ब्रह्मपुत्र दक्ष फिर से पुत्र रूप में उत्पन्न हुए।"

है, कि भगवान् जो करें उसी में सन्तुष्ट रहे। उनकी हाँ में हा मिलाता रहे। उनके विधान को विघ्न न समझे। निवृत्ति प्रवृत्ति सर्गों में सम रहकर उनकी आज्ञा का पालन करे, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करे, यही भक्तों का लक्षण है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब भगवान् ने प्रचेताओं को बिना माँगे सभी इच्छित वरदान दे दिये तब कृतज्ञता के कारण उन सबका हृदय भर आया। भगवान् फिर भी उनसे कहने लगे—"तुम्हें और भी जो अभीष्ट हो वह वर मुझसे माँग लो।"

यह सुनकर प्रचेता अत्यन्त विनय के साथ भगवान् की स्तुति करते-करते अन्त में कहने लगे—"हे जगदाधार! हे सर्वलोकैक नाथ! हे अच्युत! हे जगत्पते! जब मोक्ष के दाता सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाले कल्पवृक्ष के समान आपको ही हमने अकस्मात् प्राप्त कर लिया, तब फिर हमारा मन मधुप अन्यत्र कहाँ जाय। और किस वस्तु की इच्छा करे। फिर भी हम एक वरदान आपसे और माँगना चहते हैं।"

भगवान् ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"हाँ-हाँ, माँगो-माँगो। तुम जो भी माँगोगे वही मैं दूँगा।"

प्रचेताओं ने कहा—"भगवन्! हम यही वरदान माँगते हैं, कि पूर्व कर्मों के अनुसार प्रारब्ध भोग के लिये हमें चाहे जिस-जिस योनि में जन्म लेना पड़े उस-उस योनि में हमें भगवत् भक्तों का सत्संग सदा प्राप्त होता रहे।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"अरे यह क्या तुम लोगों ने माँगा। सम्राट की प्रसन्नता प्राप्त करके भी एक मुट्ठी धान ही माँगे! अरे भैया! हम तो मोक्षपति हैं। तुम लोग हमसे मोक्ष माँग लेते जिससे सदा के लिये जन्म-मरण के चक्कर

से ही छूटजाते। यदि जन्म माँगना ही था तो देवयोनि मागते जिससे स्वर्गीय सुखों का आनन्द भोगते।"

प्रचेताओं ने कहा—"भगवन्! भूलोक हो चाहे देवलोक, रुद्रलोक हो चाहे विष्णुलोक, सब एक ही तुला के चट्टे वट्टे हैं। फिरकर वे ही माया के भोग हैं। उनको अब आपसे क्या माँगे उनका अनुभव तो हमने सहस्रों वर्ष यहाँ कर ही लिया। रही मोक्ष की बात। सो उस राँड़ मोक्ष से भी हमें क्या प्रयोजन, जिसमें आपकी सुमधुर कथा, जिसमे आपका त्रैलोक्य पावन नाम संकीर्तन का रस न बरसता हो। आप तो कह रहे हैं भोग मोक्ष की बात, हम तो कहते हैं, जन्म जन्मान्तरों की बात छोड़ दीजिये भगवत् भक्तों की एक क्षण की संगति के सम्मुख हम स्वर्ग मोक्ष सभी को तुच्छ समझते हैं। भगवतभक्तों की संगति से श्रेष्ठ संसार में सारातिसार पदार्थ हम अन्य किसी भी वस्तु को मानने के लिये तैयार नहीं है।

भगवान् ने कहा—"सत्संगति की तुम बड़ी प्रशंसा कर रहे हो। सत्संगति में ऐसी कौन-सी बात है, जिसके लिये तुम इतने लालायित हो रहे हो ?"

प्रचेताओं ने कहा—"अब महाराज! एक बात हो तो हम बतावें भी, आपके भक्तों की संगति से जो लाभ होता है, उसे शेषजी अपने सहस्र फणों से भी कथन नहीं कर सकते। जहाँ आपकी मधुरातिमधुर कथाओं की चर्चा होती है, वहाँ जगत् के सभी मीठे पदार्थ फीके से दिखाई देने लगते हैं। आपकी कथा सुनने से प्राणिमात्र मे प्रेम उत्पन्न हो जाता है, किसी से न राग रहता है न द्वेष। जहाँ अभय की प्राप्ति होती है। जहाँ आपके गुणों का त्यागी विरागियो द्वारा पुनः-पुनः गायन हुआ करता है, जिसके लोभ से सब कुछ त्यागकर साधु संन्यासी पैदल ही बड़े-बड़े तीर्थों में घूमते रहते हैं, उस सत्संगति से बढ़कर और

श्रेष्ठ वस्तु कौन होगी ? औरों की बात छोड़ दीजिये, हमें आपके परम भक्त श्री शिवजी का क्षण भर ही समागम हुआ था, उसी का यह फल है, कि हम सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी जगदाधार आपको प्रत्यक्ष इन चर्म चक्षुओं के द्वारा देख रहे हैं। बड़े-बड़े ब्रह्मादिक देव जिनके पल भर दर्शन के लिये लालायित रहते हैं, उनसे हम निर्भय होकर बातें कर रहे हैं। जो सत्संगति हमें इतनी अलभ्य वस्तुओं को दिलाती है, उससे बढ़कर हम और किसी को कैसे मान सकते हैं ?"

यह सुनकर भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"अच्छी बात है, तुम्हें सदा भगवान् के भक्तों का संग मिलता रहेगा। इतना कहते हुए भगवान् तत्क्षण वहीं अन्तर्धान हो गये। उनकी परम माधुर्यमयी मूर्ति के दर्शनों से उनके नेत्र तृप्त नहीं हुए थे, वे अतृप्त पिपासित से बने वहीं के वहीं खड़े के खड़े रह गये। जब अप्रतिहत प्रभाव वाले प्रभु अपने धाम को पधार गये, तब प्रचेता सावधानी के सहित समुद्र के जल से बाहर निकलकर बाहर आये।

बाहर आकर उन्होंने देखा, सम्पूर्ण पृथ्वी ऊँचे-ऊँचे वृक्षों से ढकी हुई है। जिधर देखो उधर ही वृक्ष ही वृक्ष दिखायी देते हैं, न जीव न जन्तु, सघन वृक्षों के कारण जाना भी कठिन हो गया है। झाड़ झङ्खार लता गुल्म वीरुध वनस्पति इन्होंने ही मेदिनी को आच्छादित कर रखा है। यह देखकर प्रचेताओं को कुछ क्रोध हुआ। इस इतने वृक्षों से ढकी पृथ्वी पर हम कैसे सृष्टि करें, कैसे अपनी भावी प्यारी पत्नी को खोजें। इस विचार के आते ही उनके मुख से अग्नि निकलने लगी। जिससे समस्त वृक्ष जलने लगे। चारों दिशाओं में चटर पटर होने लगी। अग्नि-देव वृक्षों को जला-जलाकर अपनी लपटों से आकाश को स्पर्श करने लगे। पवन उस प्रचण्ड अनल को उत्तेजित कर रहे थे।

सम्पूर्ण वृक्ष जल रहे थे। लोक पितामह ब्रह्माजी ने जब देखा कि ये लोग तो वृक्षों के विनाश पर ही उतारू हैं। तब तो वे शीघ्रता पूर्वक अपने हंस को दौड़ाते हुए प्रचेताओं के पास आये और हाँफते हुए बोले—"अरे, राजकुमारो! तुम यह क्या कर रहे हो। इतने दिन तपस्या करने पर भी तुम क्रोध को न जीत सके। भैया! तुम तो प्रजा के पालक हो, घालक क्यों बनते हो। पृथ्वी पर वृक्ष न रहेंगे, तो वर्षा कैसे होगी। लकड़ी न रहेगी, तोभों जन किससे बनाओगे। पशु पक्षी क्या खायेंगे। मेरी बात मानों अब इस व्यापार को बन्द करो।"

प्रचेताओं ने पितामह के पादपद्मों में प्रणाम करते हुए कहा—"प्रभो! हमें वृक्षों से कुछ अदावत थोड़े ही है, किन्तु इन सबने हमारी पत्नी को कहीं छिपा रखा है। हमें हमारी पत्नी मिल जाय, तो फिर हम इन्हें नहीं जलायेंगे।"

इतना सुनते ही जो जलने से बच रहे थे, उन वृक्षों ने उस सुकुमारी मारिषा को लाकर प्रचेताओं को दे दिया। उसके अनुपम रूप लावण्य और शील को देखकर प्रचेता परम सन्तुष्ट हुए। तब ब्रह्माजी ने कहा—"अब देर करने की आवश्यकता नहीं। तुम सब इसके साथ विवाह कर लो।"

प्रचेता भी यही चाहते थे, पुरोहिती का काम करने ब्रह्माजी आ ही गये थे। अतः वहीं अग्नि की साक्षी देकर विवाह का कार्य सम्पन्न हुआ, ब्रह्माजी ने उन्हें आशीर्वाद दिया। लोक पितामह का आशीर्वाद पाकर तथा अपनी नव विवहिता वधू को साथ लेकर वे दसों भाई अपने पिता के पुर में आये! बहू के संग अपने बेटों को वन से लौटा देखकर महाराज प्राचीनबर्हि परम प्रसन्न हुए फिर उन्हें राज काज सौंपकर स्वयं सर्वेश्वर की आराधना के निमित्त तपोवन को चले गये।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार प्रचेता गण

भगवत् कृपा प्राप्त करके तथा वृक्षों की पुत्री मारिषा के संग विवाह करके सुख पूर्वक गार्हस्थ्य धर्म का पालन करते रहे। भगवान् के उन्हें दर्शन हो चुके थे, भगवत् आज्ञा पाकर ही वे प्रवृत्ति मार्ग में प्रविष्ट हुए थे, अतः उनकी भोगों मे उतनी आसक्ति नहीं थी। वे जो भी कार्य करते, उसे श्रीहरि को समर्पित करते। जितने कार्य करते, उनके अन्त में यह संकल्प कर देते कि मेरे इस कार्य से सर्वान्तर्यामी श्रीहरि प्रसन्न हों। इस कारण उनके वे कर्म बन्धन का हेतु नहीं होते थे। उनसे क्रियमाण कर्मों की उत्पत्ति नहीं होती थी। भगवद् ध्यान से तथा भगवान के दर्शनों से उनके सम्पूर्ण सञ्चित कर्म जल भुन गये थे। अब तो वे केवल प्रारब्ध कर्मों को ही क्षीण करते हुए उनका अंत होने की प्रतीक्षा करते हुए कथा कीर्तन आदि से कालक्षेप करने लगे।"

छप्पय

*बेटा वहु निहारि नृपति नयननि जल छाये।*
*परे पैर पै पुत्र प्रेम ते पकरि उठाये॥*
*हृदय लाइ करि प्यार राज आसन बैठाये।*
*राज काज सब सौंपि तपोवन नृप सिधाये॥*
*करहिं कर्म प्रभु प्रीति हित, नित चित राखैं स्याम महँ।*
*बन्ध वासना तै कहीं, मोक्ष कर्म निष्काम महँ॥*

# दक्ष प्रजापति का पुनर्जन्म और प्रचेताओं का गृहत्याग

[ २०४ ]

चाक्षुषे त्वन्तरे प्राप्ते प्राक्सर्गे कालविद्रुते ।
यः ससर्ज प्रजा इष्टाः स दक्षो दैवचोदितः ॥*
(श्रीभा० ४ स्क० ३० अ० ४९ श्लोक)

छप्पय

*भोगे जग के भोग योग अब सब बिसरायो ।*
*इत वार्क्षी ने परम यशस्वी सुत इक जायो ॥*
*शम्भु अवज्ञाकारी ब्रह्मसुत तब तनु त्याग्यो ।*
*भये मारिषा पुत्र स्राप नन्दीश्वर लाग्यो ॥*
*चाक्षुष मन्वन्तर विषे, सृष्टि वृद्धि कारज कियो ।*
*प्रजासृजन महँ दक्ष अति, नाम 'दक्ष' तातें भयो ॥*

वृक्ष लगाने का प्रयोजन यही है, कि उसके फलों से उसकी छाया से लोगों को सुख मिले। वापी कूप तड़ाग बनवाने का फल यही है, कि पिपासित लोगों की पिपासा शान्त हो। धर्मार्थ

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! मारिषा के गर्भ से वे ही दक्ष प्रचेताओं के पुत्र हुए, जिन्होंने कालक्रम से नष्ट हुई प्रजा को चाक्षुष मन्वन्तर के आने पर भगवान् की प्रेरणा से पुनः नवीन रूप में उत्पन्न किया।"

औषधालय, विद्यालय, बनवाने का फल यही है कि ओषधि से, विद्या से लोगों के दुःख दूर हों। विवाह करने का दारग्रहण करने का एकमात्र प्रयोजन यही है, कि सत्पुत्र की प्राप्ति हो। पुत्र प्राप्ति का एकमात्र प्रयोजन है, वंश विच्छेद न हो, पितरों को पिंड जल मिलता रहे। उनके निमित्त श्राद्ध तर्पण होते रहें। यदि इन कार्यों के करने से यह प्रयोजन सिद्ध न हुआ, तो इन सबको व्यर्थ ही व्यसन मात्र समझना चाहिये।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार दसों भाई प्रचेता धर्मपूर्वक विवाह करके संसारी सुखों को भोगते हुए राज-काज करने लगे। कालान्तर में उनके एक सर्वगुण सम्पन्न पुत्र हुआ। वह संसार में प्रजापति दक्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ।"

यह सुनकर विदुरजी बोले—"महाराज! दक्ष प्रजापति तो ब्रह्माजी के पुत्र थे। अब आप कह रहे हैं, ये प्रचेताओं के पुत्र हैं यह कैसे संगति बैठेगी? क्या ये दूसरे दक्ष प्रजापति हैं या वे ही?"

इस पर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी ये वे ही दक्ष प्रजापति हैं। जैसे वशिष्ठजी ने राजर्षि निमि के शाप से अपना ब्रह्म-पुत्र का शरीर त्यागकर उर्वशी दर्शन से जो मित्रावरुण का वीर्य स्खलित हुआ था और जो कुम्भ में रख दिया था उससे फिर उत्पन्न हुए थे, इसी प्रकार जब दक्ष प्रजापति ने सतीपति भगवान् शङ्कर का अपमान किया, भरी सभा में उनकी अवज्ञा की, तब नन्दीश्वर ने उन्हें शाप दिया था 'तुम्हें ज्ञान की प्राप्ति न हो। तुम जन्म-मरण के चक्कर में घूमते ही रहो।' इसी कारण दक्ष ने उस ब्रह्मपुत्र के तनु को त्यागकर इस मन्वन्तर में मारिषा के गर्भ से जन्म ग्रहण किया। पूर्व सर्ग की सृष्टि लुप्त हो गई थी, उसे इस चाक्षुष मन्वन्तर में इन प्रचेताओं के पुत्र दक्ष ने फिर से उत्पन्न किया। अनेकों प्रकार की इन्होंने सृष्टि की रचना

थी। ब्रह्माजी के सृष्टिवर्धन कार्य में उन्होंने अत्यधिक सहयोग दिया। पूर्व जन्म के संस्कार तो बने ही रहते हैं। ये पहिले भी प्रजा सृजन के कार्य में अत्यन्त दक्ष थे। अब के भी वैसे ही दक्ष हुए इसीलिये ब्रह्माजी ने इस मन्वन्तर में भी इन्हें प्रजापति के पद पर अभिषिक्त किया और इस कल्प में भी ये दक्ष नाम से ही प्रसिद्ध हुए। इन्होंने भी प्रजापति पद को स्वीकार करके फिर अन्य जो मारीचादि प्राचीन प्रजापति हैं, उन सबको प्रजावृद्धि के कार्य में नियुक्त किया। इस प्रकार चाक्षुष मन्वन्तर भर ये प्रजा सृजन के कार्य में प्रजापतियों के सभापति होकर कार्य करते रहे।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब सहस्रों वर्षों तक संसार के सुखों को भोगते-भोगते प्रचेताओं को पुनः विवेक हुआ, तो उन्हें इन विषय भोग से वैराग्य उत्पन्न हुआ। ये सोचने लगे-अरे! हम लोग तो भगवान् की माया में ऐसे फँस गये, कि अपने यथार्थ रूप को ही भूल गये। इन संसारी भोगों में ही तन्मय हो गये। अब फिर क्या था, वैराग्य उत्पन्न होते ही उन्हें राज्यपाट, सेना, कोष, स्त्री, पुत्र सभी असत् प्रतीत होने लगे उन्होंने अपने पुत्र दक्ष को बुलाकर कहा—"बेटा! देखो तुम अपनी माता की भली-भाँति देख रेख रखना। श्रद्धा भक्ति से उनकी सेवा करना, समस्त प्रजा का पुत्रवत् पालन करते हुए प्रजापतिपद के कार्य को भली-भाँति निभाना। हम लोग तो अब भगवत् आराधना के निमित्त तपोवन जा रहे हैं।"

अपने पिताओं की ऐसी आज्ञा सुनकर प्रजापति दक्ष ने उन्हें सिर से प्रणाम किया। उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर के रुद्ध कण्ठ और साश्रु नयनों से उन्हें विदा किया और स्वयं अपनी माता की सेवा करते हुए हुए, धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करने लगे।

इधर प्रचेता अपने नगर से निकल कर पश्चिम दिशा की ओर चल दिये। वे चलते-चलते पश्चिम समुद्र के तट पर पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक अत्यन्त ही सुन्दर आश्रम देखा। पूँछ ताँछ करने से ज्ञात हुआ कि यह एक सिद्धाश्रम है। पूर्वकाल में यहाँ पर एक परम तेजस्वी तपस्वी जाजलि नाम के मुनि निवास करते थे। उन्होंने इसी स्थान पर सिद्धि प्राप्त की थी। जहाँ पर रहकर कोई सन्त सिद्ध होते हैं, वह भूमि भी सिद्ध भूमि बन जाती है। उसके कण-कण में-वहाँ के वायु मण्डल में तपस्या की एक आभा फैल जाती है। इसीलिये साधक तीर्थ स्थानों में साधु महात्माओं के निवास स्थानों में जाकर साधना करते हैं, जिससे उनकी साधना में सहायता मिल सके। इसीलिये प्रचेता उस जाजलि मुनि के आश्रम में रहकर तपस्या करने लगे।

उस आश्रम में रहकर उन्होंने फिर से योग का अभ्यास करना आरम्भ कर दिया। पहिले प्राणायाम के द्वारा उन्होंने प्राणों को स्थिर किया। बिखरी हुई चित्त की वृत्तियों का निरोध करके मन को स्थिर किया। संकल्प विकल्प का त्याग करके वाणी का संयम किया अर्थात् मौन व्रत धारण किया। समस्त इन्द्रियों को जीतकर दृष्टि को एक लक्ष्य पर स्थिर करके दृढ़ आसन बाँध कर शरीर को स्थिर शांत करके उन्होंने अपने अन्तःकरण को विशुद्ध ब्रह्म में लीन कर दिया। इसी प्रकार वे मन को दृढ़ता के साथ रोककर भगवान् के ध्यान में निमग्न हो गये।

भगवद् ध्यान में सत्सङ्ग अत्यन्त सहायक है। ध्यान धारणा करते हुए, सत्सङ्ग प्राप्त हो जाय तो उससे सभी प्रकार के संशयों का नाश हो जाता है। सत्संग ऐसी खटाई है, जिससे लगा हुआ धातु के ऊपर मल दूर हो जाता है और पात्र चम-चमाने लगता है। प्रचेताओं ने तो भगवान् से सत्संगति का वर-दान माँगा ही था और भगवान् ने उन्हें दिया भी था। इसलिये

वे अब सत्संगति की इच्छा करने लगे। किसी प्रकार महत्संग प्राप्त हो। भगवद्भक्त विवेक-ब्रह्मज्ञानी-सन्त के दर्शन हों, तो सब शंकाओं का समाधान हो जाय, अपने कर्तव्य का ज्ञान प्राप्त हो। इस प्रकार प्रचेता सोच ही रहे थे, कि इतने में ही उन्होंने क्या देखा कि सामने से रामकृष्ण गुण गाते, वीणा बजाते देव दानव सभी के समान रूप से वन्दनीय देवर्षि नारदजी आ रहे हैं। नारदजी के दर्शनों से प्रचेताओं के रोम खिल उठे। जिस प्रकार अत्यन्त बुभुक्षित पुरुष को ५६ व्यञ्जनों से सजा सजाया थाल स्वतः ही प्राप्त हो जाय। सबने सभ्रम के साथ उठकर देवर्षि का स्वागत सत्कार किया। पैर धोकर अर्घ्य देकर फल फूलों से उनका सम्मान किया और दसों भाई हाथ जोड़कर नम्रता के साथ नारदजी को चारों ओर से घेरकर बैठ गये।

नारदजी ने प्रचेताओं से कुशल प्रश्न पूछा और फिर अत्यन्त ही प्रेम के साथ कहने लगे—"राजकुमारो! तुम सब भाई बड़े साधु स्वभाव के हो। तुम सबके शील स्वभाव एक से हैं। तुम सब भगवत्भक्त हो। यह तुमने बहुत ही उत्तम कार्य किया, कि अपने योग्य पुत्र को राजपाट सौंपकर भगवान् की आराधना के निमित्त इस सिद्धाश्रम पर आ गये। अब तुम्हें जो कुछ मुझसे पूछना हो पूछो।"

यह सुनकर अत्यन्त ही मधुर वाणी में प्रचेताओं ने कहा—"भगवन्! हम सब भाई हृदय से आपका स्वागत करते हैं। यह बड़े सौभाग्य की बात है जो हमें आज अकस्मात् आपके दर्शन हुए। आपको किसी से कुछ प्रयोजन तो है नहीं। आप तो केवल प्राणियों के उपकार के निमित्त ही दयावश अभय प्रदान करने के निमित्त सूर्य के समान सभी लोकों में विचरा करते हैं। आप हमें कुछ तत्त्वज्ञान का उपदेश दें।"

नारदजी ने सरलता के साथ कहा—"अरे भैया! हम, तुम

लोगों को क्या उपदेश दें। तुम्हें तो भगवान् शंकर से स्वयं साक्षात् श्रीहरि से ज्ञानोपदेश प्राप्त हो चुका है। उन्हीं के मुख से सुनी हुई बातें तो कहेंगे।"

प्रचेताओं ने कहा—"प्रभो! यह सत्य है, कि हमारे ऊपर भगवान् भूतनाथ ने कृपा की थी और अखिल भुवनपति श्री हरि ने भी हमें दर्शन और उपदेश देकर कृतार्थ किया था, किन्तु यह गृहस्थाश्रम में आसक्त हो जाने के कारण वह सभी ज्ञान हमें विस्मृत प्रायः हो गया है। कृपया उसे ही आप फिरसे नूतन बना दें हमारी वैराग्यरूप खड्ग की धार कुण्ठित सी हो गई है। उसी पर शान चढाकर उसे तीक्ष्ण बना दें। हमारे मन रूप पात्र पर अज्ञान रूप काई जम गई है। अपनी शिक्षा रूप खटाई लगाकर उसे चमका दें हम देखे हुए मार्ग को भूल गये हैं, उसे पुनः सकेत द्वारा समझा दें।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! प्रचेताओं की ऐसी बात सुनकर कृपा के सागर नारदजी ने उन्हें समस्त उपदेश का सारातिसार ज्ञान प्रदान करने लगे। नारदजी ने उन्हें ऐसा सरल सुगम मार्ग बताया जो प्रत्येक साधक को बार-बार सुनना और पढ़ना चाहिये। जिसको श्रद्धापूर्वक सुनने और आचरण करने से मनुष्य इस अपार संसार रूप समुद्र को बात की बात में पार कर जाता है।"

छप्पय

सौंपि पुत्र कूँ राज प्रचेता तप हित वन कूँ।
गये सिन्धु के तीर समाहित कीन्हों मनकूँ॥
रोकि, प्रानि, मन, वचन, दृष्टि थिर करी योगतें।
तन तप करि कृश करथो हटायो चित्त भोगतें॥
सत्संगति पाछा भई, नारदजी दरशन दियो।
पुण्य प्रचेतनि के जगे, मुनि कृतार्थ सबकूँ कियो॥